महादेव गोविन्द रानडे

भारतीय इतिहास और अर्थशास्त्र के महान ग्रंथ

मराठा शक्ति का उदय

महादेव गोविन्द रानडे

अनुवाद : दामोदर अग्रवाल

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

निदेशक ; प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित ।

●सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001

●कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई-400038

● 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700069

●एल० एल० ए० ऑडीटोरियम, 736 अन्नासलै, मद्रास-600002

●बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004

●निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम-695001

● 10 बी०, स्टेशन रोड, लखनऊ-226004

●स्टेट आर्किलॉजिकल म्यूजियम बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन, हैदराबाद-500004

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, शिमला द्वारा मुद्रित ।

यह पुस्तक

न्यायमूर्ति रानडे ने अनेक क्षेत्रों में पथ-प्रदर्शक का कार्य किया। उन्होंने अपनी असीम बौद्धिक प्रतिभा से राष्ट्र शक्ति के आधारभूत तत्वों की विवेचना की। समाज सुधार के क्षेत्र में भी वे अग्रणी रहे और इतिहास तथा राजनैतिक अर्थव्यवस्था पर लिखी उनकी पुस्तकें उनके बहुमुखी ज्ञान की परिचायक हैं। इस राष्ट्र निर्माता को मराठों के इतिहास ने इसलिए भी आकर्षित किया, क्योंकि उनके उत्थान को राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया का प्रथम चरण माना गया।

लेखक ने पुस्तक को दो भागों में प्रस्तुत करना चाहा था। पहला भाग 1900 में प्रकाशित हुआ था। दूसरे भाग की पाण्डुलिपि सम्बन्धी टिप्पणियां भी लगभग तैयार हो चुकी थीं, पर सरकार द्वारा कुछ नए दस्तावेज़ों के प्रस्तुत कर दिए जाने के कारण उनका वैज्ञानिक परीक्षण आवश्यक हो गया। किन्तु इस कार्य को वह शुरू करते, उसके पहले ही उनका देहान्त हो गया।

यह पुस्तक अपने ढंग की एक निराली कृति है, हालांकि न्यायमूर्ति रानडे ने विनम्रतावश इसे 'कुछ छुटपुट अध्याय' कहा है। पुस्तक के व्यापक विस्तार तथा मराठा इतिहास पर लेखक की असाधारण पकड़ से विषय पर रचयिता का अधिकार स्पष्ट झलकता है और यह भी लगता है कि यदि वह जीवन के अन्य क्षेत्रों में व्यस्त न हो गए होते तो एक महान इतिहासकार बनते। मराठा शक्ति के उदय की कहानी इतने संक्षेप में और इतनी सुन्दरता के साथ किसी दूसरी पुस्तक में नहीं कही गई है। यह पुस्तक छात्रों तथा इतिहासकारों के लिए निश्चित रूप से एक आदर्श है। आगे चलकर मराठा इतिहास के अध्ययन में तथा भारत के समूचे इतिहास के प्रति इस पुस्तक से जो दृष्टिकोण-परिवर्तन आया, उसके कारण इसे अब एक 'क्लासिक' मान लिया गया है। इसका प्रकाशन 'भारतीय इतिहास और अर्थशास्त्र के महान ग्रंथ' पुस्तकमाला के अन्तर्गत इसलिए हो रहा है कि यह पुस्तक दुर्लभ हो गई थी। इसे पुस्तक के प्रथम संस्करण के रूप में ही ज्यों का त्यों छापा जा रहा है जो 1901 में लेखक की मृत्यु के कुछ महीने पूर्व ही प्रकाशित हुआ था।

बी० वी० केसकर

9756

लेखक की ओर से

सत्रहवीं शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षों में भारत के पश्चिमी घाट पर दो महत्वहीन जान पड़ने वाली घटनाएं घटीं—एक थी 1612 में सूरत में एक अंग्रेजी कारखाने का खोला जाना और दूसरी घटना थी 1627 में जुन्नार के पास शिवनेर में अहमदनगर के निज़ाम शाही राज्य के एक छोटे से मराठा जागीरदार के घर में एक बेटे का पैदा होना। प्रारम्भ में तो इन घटनाओं पर किसी का कोई अधिक ध्यान नहीं गया, पर इनमें दो बड़ी शक्तियों का जन्म हुआ, जो आगे की दो शताब्दियों में एक दूसरे से कभी दोस्त बनकर और कभी दुश्मन बनकर एक अजीबोगरीब ढंग से सत्ता हथियाने के लिए जूझती रहीं, और यह सब तब तक चलता रहा जब तक एक अधिक संगठित विदेशी सत्ता आकर संघर्ष में शामिल न हो गई और विघटनग्रस्त मूल शासकों को खिसका कर प्रधान शासक न बन बैठी। इसी संगठित शक्ति के उदय तथा उत्थान पर भारतीय तथा अंग्रेज पाठकों के लाभ के लिए एक विहगम दृष्टि डालना ही इस पुस्तक का अभिप्राय है। पूरे सौ वर्षों तक यही शक्ति देश के मूल शासकों से भी अधिक महत्वपूर्ण रही और पश्चिम में द्वारिका से लेकर पूर्व में जगन्नाथ और उत्तर में हरिद्वार से लेकर दक्षिण में रामेश्वरम तक पूरे भारतीय उप-महाद्वीप पर इसी की आज्ञा का पालन होता रहा। इस पुस्तक का लक्ष्य इतिहास के इस पहलू की लम्बी कहानी के घिसे-पिटे मार्ग पर चलना नहीं है, क्योंकि यह कहानी एक तो बखरों द्वारा अनेक बार दुहराई जा चुकी है, दूसरे ग्राट डफ द्वारा लिखित मराठों के इतिहास में भी बड़े अधिकारिक ढंग से कही गई है। हाल ही में इतिहास के इस पक्ष पर विद्वानों द्वारा कुछ और सामग्री उपलब्ध कराई गई है, और इसे और अधिक विस्तार दिया जा सकता है, पर पहले इस नई उपलब्ध सामग्री का तरीके से अध्ययन करना होगा। वैसे भी यह बड़ा, महत्वाकांक्षी कार्य इन छुटपुट अध्यायों की परिधि के बाहर है। वास्तव में इसकी रचना के पीछे मेरा उद्देश्य है इतिहास के इस पक्ष की मुख्य विशेषताओं को भारतीय दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना तथा उन भ्रांतियों को दूर करना जो नैतिक तथा राजनैतिक स्वार्थ सिद्धि से पैदा हुई हैं और हारे हुए शासकों के प्रति विजयी ब्रिटिश सत्ता के प्रतिनिधियों की सहानुभूति प्राप्त करना भी है। और अब जबकि प्रतिस्पर्द्धाएं समाप्त हो चुकी हैं, तब हमें उन महान लोगों की न्याय-प्रवणता की प्रशंसा करनी चाहिए, जो अब चले गए हैं पर जिनका नाम अपरिवर्तनीय अतीत की मधुरस्मृति के रूप में अब भी लाखों भारतीयों ने अपने हृदय में संजो रखा है।

पुस्तक का लेखक पुस्तक में किसी अन्य गुण के होने का दावा नहीं करता। वह अपने ऊपर इसकी रचना का दायित्व भी न लेता यदि उसके एक सम्मान्य मित्र, जो अब नहीं रहे, और जिन्होंने देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर इसे लेखक के साथ संयुक्त रूप से लिखना शुरू किया था, इसे अधूरा न छोड़ गए होते और इसे पूर्ण करने का दायित्व लेखक का न हो जाता। निस्संदेह यदि वे जीवित होते तो पुस्तक को स्वयं पूरा करते और फिर यह निश्चित रूप से उनके शानदार जीवन की सर्वोच्च कृति होती।

ये बारह अध्याय, जो अब प्रकाशित हो रहे हैं, मराठा शक्ति के उदय से सम्बन्धित हैं। दूसरे भाग में मराठा राज्यसंघ की प्रगति की कहानी होगी। पाण्डुलिपि सम्बन्धी टिप्पणिया लगभग तैयार हैं, पर इन टिप्पणियों के तैयार किए जाने के बाद बम्बई की सरकार ने जनता के अवलोकन के लिए पूना दफ़्तर के कुछ कागजात उपलब्ध कराए हैं, और इसलिए यह आवश्यक समझा गया कि फिलहाल इस दूसरे भाग का प्रकाशन स्थगित कर दिया जाए; क्योंकि जब यह नई सामग्री हमारे सामने उपलब्ध है, तब उसे अब तक उपेक्षित सूचना-स्रोत का सावधानीपूर्वक परीक्षण किए बिना विषय के इस पक्ष पर लिखना उचित नही होगा। पुस्तक के उपसंहार के रूप में, कुछ गुणग्राही मित्रों के अनुरोध पर, स्वर्गीय न्यायमूर्ति तैलंग की एक रचना दी जा रही है। श्री तैलंग का निबन्ध, 'मराठा इतिहास के कुछ पन्ने' उस भावना को साकार करता है जिस भावना के साथ देश के इतिहासकारों को देश के अतीत का इतिहास लिखना चाहिए। चूंकि इस पुस्तक का उद्देश्य मराठा इतिहास सम्बन्धी तथ्यों का सामान्य परिचय प्रस्तुत करना है, न कि उससे कोई सीख लेना, इसलिए इसे अंग्रेज़ी तथा भारतीय विद्वानो की रचनाओं के सन्दर्भों से बोझिल करना आवश्यक नही समझा गया। पर दो बातें अवश्य याद रखनी चाहिए: (1) मराठा शक्ति का उदय किसी विशेष संयोग के कारण किसी अचानक घटी हुई घटना के रूप में नही, बल्कि हिन्दू राष्ट्रीयता के सच्चे प्रयास के परिणामस्वरूप हुआ। साथ ही इसका लक्ष्य केवल स्वतंत्रता को प्राप्त करना नही बल्कि वह भी प्राप्त करना था जिसे पाने का प्रयास अब तक नही किया गया था अर्थात् विभिन्न प्रान्तों को मिला कर एक ऐसे मराठा राज्यसंघ की स्थापना जो देश भक्ति के एक ही धागे से बंधा हुआ हो; और (2) इसकी सफलता के पीछे थी सभी वर्गों की मिली जुली एक सार्वजनिक सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक उथल-पुथल। यह और बात है कि लोगों का प्रयास सफल नहीं हुआ, पर उस असफलता से भी सीख मिलती है एक प्रकार की सर्वोच्च नैतिकता की, और कदाचित यही प्रस्तावना भी थी उस महान अनुशासन की, जिसके कारण ब्रिटिश सरकार के निर्देशन में भारत की विभिन्न जातियों में एकता स्थापित कर पाना संभव हुआ।

विषय सूची

	पृष्ठ
यह पुस्तक	iii
लेखक की ओर से	v
1. मराठा इतिहास का महत्व	1
2. आधार-भूमि का निर्माण	9
3. बीज का आरोपण	20
4. बीज का अंकुरण	30
5. वृक्ष फूलने लगे	42
6. और अब फल	51
7. शिवाजी का नागरिक शासन	57
8. महाराष्ट्र के संत और पैगम्बर	70
9. जिंजी	84
10. अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर	95
11. चौथ और सरदेशमुखी	106
12. दक्षिण भारत में मराठे	115
परिशिष्ट—	
कुछ पन्ने मराठा इतिहास के	123
पाद टिप्पणियां	146

अध्याय 1

मराठा इतिहास का महत्व

प्रारंभ में ही हमें संक्षेप में यह स्पष्ट कर लेना होगा कि जो कहानी हम कहने जा रहे हैं उस कहानी का नैतिक महत्व क्या है, और मराठा राज्यसंघ के इतिहास को उन दूसरे राजवंशों से भी, जिनकी वंशावली भी लम्बी थी, और जिनके शासनकाल में अनेक उतार-चढ़ाव भी आए, क्यों अधिक महत्व दिया जा रहा है। बहुतों का तो यह भी कहना है कि जो दस्यु-शक्ति लूटमार तथा ऐसे ही अन्य कार्यों के बल पर फलती-फूलती रही और जिसको सफलता इसलिए मिली कि वह उन शक्तियों में सर्वाधिक चालाक तथा साहसिक थी जिन्होंने औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य में विघटन पैदा करने में मदद की, उस शक्ति का कोई विशेष नैतिक महत्व नहीं समझना चाहिए। यह भावना अधिकतर उन पाठकों में है जिनका इतिहास-ज्ञान मात्र अंग्रेज़ी इतिहासकारों की पुस्तकों पर आधारित है। यहां तक कि श्री ग्रांट डफ ने भी इस धारणा का समर्थन किया है कि महाराष्ट्र के हिन्दुओं की उपद्रवी लूटमार वाली दस्यु-वृत्ति जो कुछ समय के लिए क्षीण हो गई थी वह उनके मुसलमान विजेताओं के आपसी झगड़ों के कारण दबी हुई चिनगारी की तरह भड़क उठी और फिर तो वह सह्याद्रि पर्वतों पर सूखी घास में लगी आग की तरह लपटें मारने लगी और लोग दूर खड़े उस महा अग्निकांड को आश्चर्य से देखते रहे। इतिहासकार की यह धारणा यदि सही होती तो यह कहा जा सकता था कि मराठों के उदय की कहानी में नैतिक दृष्टि से ऐसा कुछ भी नहीं जो हर काल के लिए महत्वपूर्ण हो। पर आशा है कि यह कहानी वह आधार भूमि तैयार करेगी जिससे भारत का आधुनिक इतिहास पढ़ने वाला हर छात्र समझ सके कि इस प्रकार की सभी धारणाएं मिथ्या हैं, और इतिहासकारों की इस भूल के कारण सारा वृत्तान्त दुर्बोध हो जाता है। मराठा राज्यसंघ के निर्माण में नेतृत्व करने वाले महान नेताओं के जीवन वृत्त, तथा मैसूर के हैदर तथा टीपू, हैदराबाद के निज़ाम-उल-मुल्क, अवध के शुज़ा-उद-दौला, बंगाल के अलीवर्दी ख़ां, पंजाब के रणजीत सिंह तथा भरतपुर के सूरजमल के जीवन-वृत्त में अन्तर न देख पाने वाले पाठक उस सही दृष्टिकोण को अपना सकने में असमर्थ होंगे जो इतिहास के इस पक्ष के लिए अनिवार्य है—साथ ही वे इस कहानी के महत्व को उतनी खूबी के साथ नहीं पकड़ सकते जितनी खूबी के साथ इसे हमारा देशी छात्र समझ सकता है, क्योंकि वे भारत में अंग्रेज़ों के प्रभुत्व का श्रेय क्लाइव की

साहसिकता और हेस्टिंग्स की कूटनीति को देते हैं और यह भूल जाते हैं कि यह साहस और कूटनीति इसलिए सफल हो सकी कि इसके पीछे ब्रिटिश राष्ट्र का दृढ संकल्प और अटूट साधन-सम्पन्नता थी। लूटमार अथवा बड़े साहसिक कार्य करने वाले लोग कभी बड़े साम्राज्यों की स्थापना नहीं कर सकते, और यह भी ऐसे साम्राज्य जो पीढ़ियों तक चलते रहें और उपमहाद्वीप के पूरे राजनैतिक मानचित्र को बदल दें। औरंगजेब की मृत्यु के बाद स्वाधीनता प्राप्त करने वाले प्रान्तों के बड़े-बड़े सूबेदारों के विपरीत, मराठा शक्ति के संस्थापक दो पीढ़ियों तक मुगलों के आक्रमणों को ऐसे समय झेलते रहे जब मुगल साम्राज्य अपने वैभव की चरम सीमा पर था।

सैनिक शक्ति के बल पर स्थापित राज्यों के पीछे कोई राष्ट्रीय नैतिक बल नहीं होता और इसीलिए ऐसे प्रान्तो की शक्तिया उन सूबेदारों के जीवन के साथ ही समाप्त हो गईं। किन्तु मराठा राज्यसंघ की बात कुछ और ही थी। संघर्ष में मारे गए नेताओं का स्थान लेने के लिए दस पीढ़ियों तक एक-एक करके नए-नए नेता उभरते गए और इस प्रकार धीरे-धीरे मराठा राज्यसंघ विरोध के सभी तत्वों को समाप्त करने में ही सफल नहीं हुआ बल्कि विरोधियों की असफलता से बल प्राप्त भी करता रहा और अपने विनाश के भस्म से भी अमरपक्षी की तरह और भी अधिक शानदार रूप लेकर उभरता रहा। मराठों के इस दृढ़ निश्चय से स्पष्ट होता है कि उनकी सफलता के पीछे निहित सिद्धान्त के रूप में उनकी लूटमार करने वाली साहसिक प्रवृत्ति अथवा कभी-कभी अग्नि की भांति भस्म कर देने की शक्ति नहीं बल्कि उनकी अपनी एक प्रकार की ओजस्विता थी। इस अध्याय में संक्षेप में हम इन्हीं मुख्य विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे, क्योकि इन्हीं से इस कहानी को वह स्थायी नैतिक महत्व प्राप्त होता है जिसमें इतिहास के विद्यार्थियों की रुचि है।

(1)

हमें यह स्पष्ट रूप से सबसे पहले समझ लेना होगा कि भारत में अंग्रेजों के पूर्ववर्ती शासक मुसलमान नहीं, जैसा कि अक्सर मान लिया जाता है, बल्कि अपने देश के ही राजे-महाराजे थे जिन्होंने मुसलमान शासन का जुआ सफलतापूर्वक उतार फेंका था। श्री ग्रांट डफ ने भी मराठा इतिहास की इस मुख्य विशेषता की चर्चा करते हुए कहा है, "मराठा ही हमारे भारत-विजय के इतिहास में हमारे पूर्ववर्ती थे, जो अपने शौर्य के कारण दूर-दूर तक विख्यात 'शिवाजी भोंसले के रूप में अपना एक नेता प्राप्त कर लेने तक अपनी शक्ति को धीरे-धीरे संजोते रहे।" बंगाल तथा कोरोमंडल तट को छोड़कर, अंग्रेजों को जहां-जहां भी जिन शक्तियों को हटाना पड़ा वे शक्तियां मुसलमान सूबेदारों की नहीं बल्कि उन हिन्दू शासकों की थी जिन्होंने अपने स्वतंत्र होने का पूरा दावा किया था। इन देशी शक्तियों में पहला स्थान निस्सन्देह मराठा राज्यसंघ को मिलता है। इस मराठा शक्ति ने महा-
पश्चिमी भाग से उदित होकर अपना प्रभाव मध्य दक्कन, कर्नाटक तथा दक्षिण

भारत में दूर-दूर तक तंजौर तथा मैसूर तक फैलाया। उत्तर में इसका प्रभाव काठियावाड़ सहित गुजरात, बरार, मध्य प्रान्त, कटक, मध्य भारत में मालवा, बुंदेलखंड, राजपूताना और उत्तर भारत के ही दिल्ली, आगरा, दोआब और रुहेलखंड तक फैला। बंगाल तथा अवध पर भी आक्रमण हुए पर ये अंग्रेजी सेनाओं के हस्तक्षेप के कारण सफलता प्राप्त न कर सके। इन्हीं मराठा शक्तियों के प्रतिनिधि पचास वर्षों तक दिल्ली के सम्राटों को भी बनाते-मिटाते रहे। इन्ही सीमाओं के अन्तर्गत, शासन की बागडोर उन देशी सरदारों के हाथ में थी जो मराठा राज्यसंघ के या तो सदस्य थे अथवा उसके अधीनस्थ किसी मैत्री-संधि में बंधे हुए थे। मुसलमानों के भी दो मध्यवर्ती राज्य, मैसूर तथा हैदराबाद, उन्ही के प्रभाव में थे। इस प्रकार के संगठन की सफलता का रहस्य, जिसकी वजह से मराठों का इतने बड़े भूभाग पर अधिकार हो गया था, भारत में अंग्रेजी शासन के लिए भी एक चिरस्थायी रुचि की बात थी। इस मराठा संघ के प्रधान पेशवा माने जाते थे जो सिर्फ अपने देश में ही मुख्य सेनाधिकारी नहीं थे बल्कि मुगल महल में बन्दी बना कर रखे गए दिल्ली के सुलतानों के भी उप-प्रतिनिधि का कार्य कर रहे थे। इसलिए यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि व्यावहारिक दृष्टि से बंगाल तथा मद्रास के समुद्रवर्ती हिस्सों को छोड़कर लगभग समूचा भारत ही देश के हिन्दू राजाओं की शासन-सत्ता में आ गया था, और इन राजाओं पर भी नियंत्रण था मराठा राज्यसंघ का। मुसलमानों का प्रभाव समाप्त हो चला था, हिन्दुओं ने अपनी स्थिति संभाल ली थी और वे अपने देश के स्वतंत्र शासक हो गए थे, और प्रभुसत्ता के लिए इन्ही शक्तियों से अंग्रेजों को भी संघर्ष करना था।

(2)

मराठा राज्यसंघ के रहस्य को पूरा-पूरा तब तक नही समझा जा सकता, जब तक यह न जान लिया जाए कि यह कार्य किसी एक व्यक्ति का नही बल्कि कुछ प्रतिभावान व्यक्तियों की एक पूरी परम्परा का था। इसकी नींव भी काफी बड़ी और गहरी थी—वह सभी लोगों के दिलों में थी। बंगाल, कर्नाटक, अवध तथा हैदराबाद की सूबेदारी से पृथक, मराठा शक्ति का उदय होता है उस प्रक्रिया से जिसे हम राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया कह सकते हैं। यह शक्ति किसी एक साहसिक व्यक्ति के किसी सफल साहस-कर्म से उत्पन्न नही हुई थी। यह शक्ति परिणाम थी, उस पूरे जनसमूह की उथल-पुथल का, जो भाषा, धर्म, जाति तथा साहित्य के एक ही धागे में बंधे हुए थे और एक स्वाधीन राजनैतिक अस्तित्व की खोज में एकता के मजबूत सूत्र में और भी अधिक बंध जाना चाहते थे। भारत पर मुसलमानों के अनर्थकारी विदेशी हमलों के बाद, देश में यह अपने ढंग का एक पहला प्रयोग था। यह तो नही कहा जा सकता कि अपने प्रथम प्रयास में ही हमारा ढांचा पुख्ता हो गया। यह विशेषता थी यूरोप के देशों की पर इसमें कोई सन्देह नही कि एकता

ही इसकी मूल विशेषता अथवा मुख्य गुण थी। यह एक प्रकार की राष्ट्रव्यापी क्रान्ति थी जिसमें सभी वर्गों के लोगों का सहयोग था। इस संगठन की ताकत इसमें नहीं थी कि कुछ समय के लिए कुछ उच्च जातियों का मान-सम्मान बढ़ गया, बल्कि इसकी जड़ें और गहरी गाव में रहने वाले साधारण लोगों तक पहुंच चुकी थी। ग्वाले, चरवाहे, ब्राह्मण, अब्राह्मण, यहा तक कि मुसलमानों ने भी इस प्रभाव को अनुभव किया और इसकी शक्ति को माना। यूरोप के लेखक भी, जिन्होंने भारतीयों की जाति-भावना के कारण उनमें राष्ट्रीय भावना की कमी है ऐसी भर्त्सना की है, इस अपवाद को मानने को बाध्य हुए हैं कि मराठों, राजपूतों तथा सिक्खों में इस प्रकार की कोई कमी नहीं है। राजपूतों के साथ यह था कि प्रभुता कुछ विशिष्ट अभिजात कुलों तक ही सीमित थी। सिक्खों में यह उनकी खालसा सेना तक थी, जो वास्तव में पंजाब की पूरी आबादी के अनुपात में अल्पसंख्यक थे। किन्तु मराठों की बात ही दूसरी थी, क्योंकि उनमें यद्यपि वर्ग-प्रभुत्व तथा वंश-भावना जैसी बातें भी थीं, किन्तु फिर भी उन्हें उन सामान्य जनों की राजनैतिक भावना के नीचे दबाकर रखा गया था, जो साल में छः माह राष्ट्रीय सेना में काम करते और शेष छः महीने अपने गाव लौट कर अपने परिवार की जमीन पर खेती करते और अपने 'वतन' में रहने का सुख भोगते। अपने 'वतन' के लिए स्नेह की यह भावना मराठा चरित्र की एक विशेष बात थी और बड़े-बड़े सेनाधिपति भी इस बात पर गर्व करते थे कि वे महाराष्ट्र में अपने पुराने गाव को लौट कर 'पाटिल' अथवा 'देशमुख' हो जाते थे और यह भूल जाते थे कि सुदूर देशों में वे बड़ी-बड़ी जागीरों के मालिक भी हैं। देशभक्ति की इसी भावना से अत्यन्त शक्तिशाली ढंग से उभरती हैं वे विशेषताएं जो किसी राष्ट्र के निर्माण में अनिवार्य होती हैं—ऐसा राष्ट्र जो सही शब्दों में राष्ट्र हो—और यही कारण है जो मराठा इतिहास के विशेष अध्ययन को आवश्यक ठहराता है। मराठों का इतिहास सचमुच ही इतिहास है, एक सच्ची भारतीय राष्ट्रीयता की स्थापना का, और यही राष्ट्रीयता है जो मुसलमान शासन से उत्पन्न अराजक व्यवस्था में अपने को परास्त नहीं अनुभव करती। पृष्ठभूमि में कार्य कर रही होती राष्ट्रीय भावना की इसी शक्ति ने, जिसने नेताओं के प्रयास को बल प्रदान किया, उनमें इस स्वप्न की संभावना भी उत्पन्न की, कि दिल्ली में एक केन्द्रीय 'पादशाही' अथवा साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है जहा से दूर-दूर के देशी शासकों को एकता के सूत्र में बांधना और उन पर नियंत्रण रखना संभव हो। हैदर और टीपू तथा हैदराबाद, कर्नाटक, बंगाल और अवध के यवन शासकों के इतिहास भी मराठा इतिहास के इस पक्ष की बराबरी नहीं कर सकते। इन सभी राजाओं के इतिहास मात्र व्यक्तिगत सफलता की कहानियां हैं, जब कि जो शक्ति शिवाजी के नाम के साथ जुड़ी थी उसको सही-सही अर्थों में मराठों के इतिहास का नाम दिया जा सकता है।

की रचनाओं में नहीं। शिवाजी अनुभव करते थे कि उनको प्रेरणा प्राप्त हुई थी सीधे देवी भवानी से, और उनके जीवन में जब भी संकट की घड़ी आई, उन्होंने उसी देवी के प्रति समर्पित क्षणों से बल प्राप्त कर अपना आगे का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार के सभी प्रेरणा-स्रोतों का अध्ययन भी विशेष रूप से होना आवश्यक है, क्योंकि लोगों की आस्थाओं तथा आकांक्षाओं पर उनका प्रभाव अब भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। लोगों की नागरिक स्वतंत्रता के लिए पश्चिमी यूरोप में जो 'प्रोटेस्टेन्टवाद' का योगदान रहा वही एक छोटे स्तर पर भारत के पश्चिमी भाग में इन प्रेरणा-स्रोतों का था। इसका असर धर्म तथा कला, देशी साहित्य के विकास, लोगों की साम्प्रदायिक स्वतन्त्रता, सहिष्णुता तथा आत्मनिर्भरता में अभिवृद्धि आदि सभी क्षेत्रों में था और इसीलिए इतिहास के इस अंग के अध्ययन को महत्ता देश के छात्र तथा विदेशी अन्वेषक दोनों के लिए बहुत अधिक बढ़ जाती है।

4

एक और विशेषता भी देखी गई जिसे एक ही साथ मराठा शक्ति की कमजोरी और उसकी ताकत भी कहा जा सकता है। मराठों का इतिहास संघीय राज्यों का इतिहास है। यह भी ध्यान रखना होगा कि केन्द्रीय शक्तियों के संस्थापकों की मृत्यु हो जाने पर वे शक्तियां हमेशा कमजोर पड़ जाती थीं। स्वयं शिवाजी भी राज्यों के वर्गीकरण सम्बन्ध में अपनी राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति से ही प्रभावित थे। उनके आठ मन्त्रियों की एक मंत्रिपरिषद् थी जिसके सदस्य सैनिक तथा असैनिक दोनों शक्तियों के नेता होने के कारण मात्र परामर्शदाता से कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। अपने जीवन काल में भी जब वह दिल्ली में बन्दी बना लिए गए थे और उनकी भूमि तथा उनके किले मुसलमानों के हाथ में आ गए थे, तब भी वह जेल से छूटने के बाद अपनी शक्ति को इसी वर्गीकरण की नीति के कारण अपना मस्तक ऊंचा उठा सके थे। बाद में जब औरंगजेब के सेनापति ने उनके बेटे को बन्दी बना लिया तब उनके राज्यमंच के नेता दक्षिण चले गए और उपयुक्त समय आया, तब लौट कर उन्होंने औरंगजेब से बदला लिया। पेशवाओं के आने के बाद संघीय प्रणाली को और भी अधिक विस्तार दिया गया, और इसके लिए इन्दौर, ग्वालियर, धार, बड़ौदा तथा नागपुर में मराठा कप्तानों के शिविर लगाए गए और पूरे साम्राज्य की पूर्वी और दक्षिणी सीमाओं पर मध्य भारत के बुन्देलखण्डी, दक्षिण के पटवर्धन, सतारा के जागीरदार, भावे, रास्ते, मनकड़, महाड़िक, घोरपड़े और न जाने कितने दूसरे राज्य प्रधानों के खेमे गड़ गए। इस प्रकार शक्ति तथा सत्ता के न जाने कितने केन्द्र उभर कर सामने आ गए और ये जब तक एक ही केन्द्रीय उद्देश्य तथा एक ही विचारधारा से जीवन्त थे—और लगभग एक शताब्दी तक [illegible] से प्रेरित भी रहे—तब तक उनकी शक्ति दुर्भेद्य रही और अंग्रेजों [illegible] सेना भी उनके संगठन को तोड़े बिना सफलता नहीं प्राप्त कर सकी।

लगभग पूरे सौ वर्षों तक उत्तर की तरफ हो या दक्षिण की तरफ, पश्चिम की तरफ हो या पूर्व की तरफ, राजपूतों के विरुद्ध हो या दिल्ली के सम्राटों के विरुद्ध, रुहेलखण्ड, अवध और बंगाल में हो अथवा हैदर, टीपू और निज़ाम के विरुद्ध हो, अंग्रेज़ों के खिलाफ हो अथवा पुर्तगालियों के खिलाफ, उनका कोई भी अभियान ऐसा न था जिसमें संघ के राज्य प्रधानों ने मिल कर काम न किया हो। पेशवाओ के प्रभुत्व की स्थापना जर्मन साम्राज्य में प्रशिया राजतंत्र के समान हुई थी। यह भी स्मरण रखना होगा कि संघ की केन्द्रीय शक्ति वास्तव में शक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं वल्कि संघीय विचारधारा की आवश्यकता का प्रतिनिधित्व करती थी। एक ओर जहां पुरानी परम्पराएं चलती जा रही थी वहीं दूसरी ओर रायगड, सतारा, विशालगढ़, जिंजी तथा पूना के मंत्री सरकार के कार्यभार तथा राष्ट्रीय शक्ति का निर्देशन स्वतन्त्र रूप से बिना यह अनुभव किए कि उनके ऊपर भी एक मजबूत व्यक्तिगत शासक बैठा हुआ है, सुचारु रूप से चलाए जा रहे थे। नाना फड़णवीस के आधिपत्य में चल रही पेशवा सरकार को हैदराबाद तथा श्रीरंगपट्टनम के दरबारो में 'बार भाई' की सरकार का उपनाम दिया गया था क्योंकि वह सरकार संघ के वारह नेताओ की मिली-जुली सरकार थी किन्तु धीरे-धीरे जब संघीय विचारधारा का सम्मान घटने लगा तब राज्य संघ शक्ति के स्रोत न होकर दुर्बलता की निशानी हो गए। अंग्रेज़ शासकों को इस कमज़ोरी का पता था और उन्होंने संघ के प्रत्येक सदस्य के स्वार्थ और अहम् की भावना को उत्तेजित कर अपनी लाभ सिद्धि की और इस प्रकार राज्य संघ की एकता का सूत्र ढीला पड़ गया। संघीय सरकार स्थापित करने का इस प्रकार का प्रयोग इतने बड़े स्तर पर हिन्दू अथवा मुसलमान राजाओ के शासनकाल में पहले कभी नहीं हुआ था। किन्तु इस प्रयोग को अन्ततः असफल होना ही था क्योंकि इसमें उन गुणों की कल्पना की गई थी जो वंशानुगत नहीं होते। फिर भी जब तक उन गुणों की महत्ता बनी रही तब तक उनका अपना महत्व था। जिसके कारण देशी तथा विदेशी इतिहासकारों के लिए उनके अध्ययन का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

(5)

इस कहानी का नैतिक महत्व इस तथ्य से और भी अधिक बढ़ जाता है कि राज्य-संघीय व्यवस्था ने मराठा राष्ट्र को संकट की अवधि में विपरीत परिस्थितियों से उबर आने, और हर बार और भी समर्थ होकर उबर आने की शक्ति प्रदान की। इस प्रकार के संकट उसके इतिहास में चार बार उपस्थित हुए :

(1) शिवाजी जब दिल्ली में बन्दी बना लिए गए।

(2) जब सम्भाजी को कैद कर लिया गया और उनके भ्राता राजाराम को दक्षिण की ओर भागना पड़ा।

(3) जब पानीपत की लड़ाई से मराठा प्रभाव की सारी सम्भावनाएं समाप्त होती-सी लगीं।

(4) जब नारायणराव पेशवा की हत्या कर दी गई और मंत्रियों ने राघोबा को खिसका कर शासन-कार्य अपने हाथ में ले लिया और आपस में फूट पड़ गई, और जब अंग्रेजी सेना की पूरी ताकत भी उनके विरुद्ध थी।

जो राष्ट्र इस प्रकार की चार-चार अनर्थकारी परिस्थितियों से गुजरा हो, और जो हर बार उससे उबरकर, और अधिक निखरकर निकल आया हो उस राष्ट्र की कहानी समय की दृष्टि से उसका साम्राज्य-काल चाहे जितना भी छोटा हो, इतिहास के विद्यार्थी के लिए सचमुच ही अत्यन्त रोचक हो सकती है।

(6)

अन्तत आज भी जबकि भारत के अंग्रेज शासकों के हाथ में उसी प्रकार की सर्वोच्च शासन-सत्ता है जो कभी पेशवाओं अथवा मुगल सुल्तानों के हाथ में थी, और देश के सभी दूसरे राजा जिसकी प्रजा के समान हैं, तब भी मराठों के राज्य संघ के कुछ अवशेष ग्वालियर, इन्दौर, बड़ौदा और कोल्हापुर, धार एवं देवास में बाकी हैं और वे एक प्रकार से आश्रित होते हुए भी स्वतन्त्र हैं। दक्षिण के मराठा नेता तथा बम्बई की प्रैसीडेन्सी और अन्य देशी राज्यों, मध्य प्रान्तों, बरार तथा निज़ाम की भूमि पर रहने वाले लगभग तीन करोड़ मराठे प्रतिनिधित्व करते हैं उस शक्ति का, जिससे ब्रिटिश शासन की सुरक्षा तथा कृपा दृष्टि भोगने वाले दूसरे राज्यों के लोगों की तुलना नहीं हो सकती। आज भी उनका जो प्रभाव है वह उन लोगों के लिए दिलचस्पी का विषय बने बिना नहीं रह सकता जो भविष्य की इस संभावना को दूर तक देख सकते हैं कि एक दिन हिन्दुस्तान की महारानी की छत्र-छाया के नीचे सभी राष्ट्रों के लोग, अपनी राष्ट्रीय विशेषताओं पर आधारित एक समान सम्बन्ध-सूत्र में बंध कर एक बड़ी संघीय साम्राज्य शक्ति की स्थापना कर सकते हैं।

यही वे मुख्य विशेषताएं हैं जो मराठा राज्य संघ के उत्थान तथा पतन में नैतिक आकर्षण का एक स्थायी केन्द्र है, और इन्हीं की कहानी आगे के अध्यायों में वर्णित है।

अध्याय 2

आधार-भूमि का निर्माण

मराठा इतिहास के भारतीय तथा यूरोपीय दोनो प्रकार के लेखको की एक भ्रांत धारणा यह है कि मराठा शक्ति का उदय केवल आकस्मिक कारणो से हुआ है। स्वयं ग्राट डफ ने भी मराठा उदय की तुलना सह्याद्रि की पहाडियो पर लगी भीषण आग से की है। पर उनकी यह धारणा जाची-परखी नही है, क्योकि उनके इतिहास के पहले तीन अध्यायो का उद्देश्य, मराठा शक्ति की उन आधार-भूत विशेषताओ का पता लगाना है जो सत्रहवी शताब्दी के प्रारम्भ में शिवाजी के जन्म से पहले की घटनाओ में सक्रिय थी। तथ्य यह जान पडता है कि मराठा शक्ति के प्रारम्भिक आधार के निर्माण मे दैवी अथवा आकस्मिक परिस्थितियो की भूमिका लगभग नहीं के बराबर थी। यदि हम समस्या को ठीक-ठीक समझें तो मराठा उदय के कारणो को दक्कन पर मुसलमानो की विजय के पहले की परिस्थितियो में ढूढना चाहिए। महाराष्ट्र का प्राचीन इतिहास ताम्र-पत्रो तथा प्रस्तर मन्दिरो पर लिखे गए लेखों के आधार पर निर्मित है और इसे भारतीय पुरावेत्ताओ ने बड़े श्रम से संकलित किया है। डा० भण्डारकर ने इस विषय सम्बन्धी पूरी सामग्री अपने संकलनों के माध्यम से सामान्य पाठको को उपलब्ध कराई है। अब जो विचारणीय प्रश्न है, वह है (1) मुसलमान शासन के जुए को सफलतापूर्वक उतार फेंकने का सबसे बड़ा प्रयास सबसे पहले पश्चिमी भारत में क्यों हुआ? (2) देश की प्रकृति, देशवासियो के स्वभाव तथा देश की सस्थाओं में ऐसी कौन सी परिस्थितिया निहित थी जिनसे इस प्रयास को समर्थन तथा सफलता मिली।

इस सम्बन्ध में सबसे पहले ध्यान देने योग्य बात यह है कि जलवायु तथा स्थिति की दृष्टि से महाराष्ट्र की कुछ प्राकृतिक खूबिया है; और इस लाभ से गंगा, सिन्धु तथा अन्य बड़ी नदियों—जो अरब सागर अथवा हिन्द महासागर में गिरती हैं—की घाटियो और निचले हिस्सों में रहने वाले लोग वंचित है। महाराष्ट्र के भूगोल की खास विशेषताएं ये है कि यह दो तरफ से बड़ी-बड़ी पर्वत शृंखलाओं से घिरा हुआ है—एक ओर उत्तर से दक्षिण तक फैली हुई सह्याद्रि पहाड़ियां है तो दूसरी ओर पूर्व से पश्चिम तक फैले सतपुड़ा और विन्ध्य के पर्वत। साथ ही इन पर्वतों को अलग-सी करती हुई कुछ छोटी-छोटी ऊबड़-खाबट पहाड़ियां भी है जो उन

छोटी-छोटी नदियों की जल-विभाजक भी है जो अन्ततः कृष्णा तथा गोदावरी से मिलती हैं। इन बातों के कारण यह पूरा का पूरा प्रान्त जितना खुरदरा तथा असमतल है, उतना इतने बड़े स्तर पर भारत का कोई दूसरा भूभाग नहीं। भौगोलिक दृष्टि से समुद्र तथा सह्याद्रि के बीच का हिस्सा-कोंकण भी महाराष्ट्र में ही आता है। इसी प्रकार पर्वत शिखरों पर बसा पठार और नीचे नदी तथा घाटियों को समेटता हुआ देश नाम का इलाका भी महाराष्ट्र का ही क्षेत्र है। इन पहाड़ी शृंखलाओं के शिखर पर बने दुर्ग भी प्रकृति ने महाराष्ट्र को जो स्वाभाविक भौगोलिक सुरक्षा प्रदान की है, उसी के प्रतीक जान पड़ते हैं और ये सभी विशेषताएं उसके राजनैतिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण महाराष्ट्र की जलवायु भी उत्तम तथा स्फूर्तिकारक है और उत्तर के मैदानी इलाकों तथा निचले हिस्सों की तरह न कभी बहुत अधिक गरम और न कभी बहुत अधिक सर्द है। साथ ही अपनी पर्वतीय प्रकृति के कारण यहां की मिट्टी घटिया है और इसलिए यहां के संयमी और हट्टे-कट्टे लोग छुट-पुट रूप से दूर-दूर बसे हुए हैं। प्रकृति ने मैदानी इलाकों और पहाड़ी हिस्सों को क्षतिपूर्ति सिद्धान्त के अनुसार बराबर के उपहार बांटे हैं। यह पूरा का पूरा भाग एक प्रकार का त्रिकोण-सा बनाता है जिसका आधार है दमण से कारवार तक सह्याद्रि की शृंखला तथा समुद्र; इसका अनुलम्ब है। सतपुड़ा, जो नागपुर को पार करता हुआ पूर्व में गोदावरी तथा उसकी उपनदियों के जलसंभार तक फैला हुआ है; और इस त्रिकोण का कर्ण-भाग है इन दोनों पर्वत शृंखलाओं को जोड़ता हुआ-सा वह हिस्सा जो किसी प्राकृतिक आधार पर नहीं बल्कि भाषा के मानदण्ड से बंधा हुआ है। यह सम्पूर्ण भूभाग एक लाख से अधिक वर्गमील में फैला हुआ है और इस पर बसने वालों की संख्या करीब तीन करोड़ है। महाराष्ट्र की इन प्राकृतिक विशेषताओं के कारण, साथ ही उत्तरी भारत तथा दक्षिणी प्रायद्वीप को मिलाने वाले बड़े मार्ग पर स्थित होने के कारण, उसकी स्थिति अत्यन्त ही प्रभावशाली हो जाती है और इस प्रकार की स्थिति के लाभ से मैसूर तथा मालवा के पठार, भी—और केवल इन्हीं से ही इनकी तुलना हो सकती है—वंचित हैं।

इन प्राकृतिक दशाओं के अतिरिक्त महाराष्ट्र के इतिहास पर वहां के लोगों का चरित्र भी हमेशा छाया रहा है। उत्तर भारत में प्रभुत्व था आर्यों का, जिसके कारण वहां की मूल जातियां प्रभावहीन होकर, देश के पहाड़ी हिस्सों में जा बसीं। दक्षिणी प्रायद्वीप में द्रविड़ों की प्रभुता बनी रही, क्योंकि आर्यों में इतनी शक्ति नहीं थी कि वे अपने प्रभाव का सिक्का यहां भी लगा सकते। इन दो प्रमुख जातियों के विभाजन का परिणाम यह हुआ कि महाराष्ट्र के पठार पर ये दो जातियां समान संख्या में इस तरह बस गयी कि उनमें उन दोनों जातियों की अच्छाइयां तो बनी रहीं पर

उनकी बुराइयां नही पनप पाई । इन जातियों के मिश्रण का सबसे अच्छा प्रतीक है उनकी भाषा का निरालापन जिसका आधार द्रविड़ है, पर जिसका विकास तथा रूप-निर्माण पूरी तरह से आर्यों से प्रभावित हुआ है । अपने शरीर की बनावट में भी महाराष्ट्र के लोग उत्तरी भारत के लोगों की तरह गोरे, कोमल अथवा पूर्ण संतुलित नही है—न वे दक्षिणी द्रविडों की तरह काले अथवा कठोर शरीर वाले ही है । वैसे महाराष्ट्र में बस गए आर्यों में भी शुरू-शुरू में आए उपनिवेशियों तथा बाद के हमलावरों का यथोचित मिश्रण है । इसी प्रकार जो आर्य नही है उनमें मिश्रित हो गए है कोली, भील तथा अन्य आदिवासियों तथा उच्च द्रविड जातियों के तत्व ।

मराठा जनसमुदाय में इन जातीय तत्वो के समान अनुपातिक मिश्रण के कारण, उनकी संस्थाओं तथा धर्म में एक ऐसा सुन्दर सन्तुलन उत्पन्न हो गया है जो देश के अन्य भागों में सचमुच ही दुर्लभ है । इन संस्थाओ में ग्राम-समाज की प्रणाली एक विशेष महत्व रखती है । इसी प्रणाली के कारण यहां के लोग विदेशी हस्तक्षेप से, जिसके कारण दूसरे क्षेत्रों के लोगों को घातक परिणाम सहने पड़े, अपने को बचाने में सफल हुए । ग्राम-समाज की वही प्रणाली ग्राम-पंचायत से मिलकर अब भी कायम है; सरकार के बड़े से बडे उद्देश्यों की पूर्ति में भी सहायक होती है, और वर्तमान शासन-व्यवस्था में भी इसकी एक अटूट भूमिका है । शासन ने भी इस प्रणाली को इतना उपयोगी पाया है कि इसे थोड़ा बदल कर सिन्ध तथा गुजरात प्रान्तों में भी, जहां मुसलमानों का प्रभाव इतना प्रबल था कि उससे वहा के गावों की स्वायत्तता नष्ट हो गई थी, प्रारम्भ कर दिया है । ग्राम-समाज तथा ग्राम-पंचायत के साथ-साथ भूमि की काश्तकारी की 'रैयतवाड़ी मिराशी' व्यवस्था भी चल रही है, जिसके अनुसार छोटे किसानों को उनके द्वारा जोती गई भूमि पर पूरा मालिकाना हक मिल जाता है, और उनका दायित्व सीधे सरकार के प्रति होता है । इससे रैयतों में एक प्रकार की स्थिरता आई है और स्वतंत्रता की एक ऐसी भावना उत्पन्न हुई है जो अन्य प्रान्तों में नही पाई जाती । इस प्रकार एक ओर तो इन ग्राम संगठनों को अखण्ड रखा गया और दूसरी ओर बडे लगानो की वसूली की व्यवस्था परम्परा से चले आ रहे 'देशपाण्डे' तथा 'देशमुखों' के हाथ में ही रहने दी गई, क्योंकि जिस उद्देश्य के लिए लगान वसूली का यह प्रबन्ध शुरू किया गया था वह अब तक पूरा नहीं हुआ था । देश के दूसरे भागों में 'देशमुख' तथा 'देसाई' बंगाल के जमीदार तथा अवध के ताल्लुकेदार हो गए, जिनका दायित्व सीधे सरकार के प्रति था, और जो अन्त में गांव की भूमि के मालिक भी बन बैठे । इसी प्रकार उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम भारत के ग्राम समुदाय भी महाराष्ट्र के ग्राम समुदायों से भिन्न है क्योंकि महाराष्ट्र में भूमि पर किसी का व्यक्तिगत हक नही, किन्तु सब की साझेदारी तथा मालिकाना

अधिकार है। इस प्रकार भूमि की काश्तकारी महाराष्ट्र में अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक लोकतंत्रीय तथा बराबरी पर आधारित है। इन विशेषताओं के कारण यहा के लोगो का स्वभाव एक दूसरे की सहायता करना और उनकी स्वतंत्रता का ध्यान रखना हो गया है और उनके यही गुण पहले भी उनके बहुत काम के सिद्ध हुए है।

इन नागरिक संस्थाओं के साथ ही साथ महाराष्ट्र के लोकप्रिय धर्म के कारण भी मराठो में वह अतिवादी साम्प्रदायिकता नही आने पाई जिसकी वजह से प्रायद्वीप का द्रविड भाग विकृति तथा विखण्डन का शिकार हुआ और उत्तर की जातिया न जाने कितनी छोटी-छोटी जातियों में बंट गई। महाराष्ट्र में स्मार्त एव वैष्णव, रूढिवादी सनातनी तथा असनातनी के बीच उतना कोई बड़ा-चढ़ा अन्तर नही दिखाई देता जितना तुगभद्रा को पार करते ही उत्तर के लोगो में है। यदि वे एक दूसरे से घुलमिल नही गए है तो एक दूसरे के प्रति एक प्रकार की तटस्थता की सीमा तक सहिष्णु है जो उनकी विशेषता है। बराबरी के जिस स्तर पर ब्राह्मण तथा गैर ब्राह्मण शूद्र एक दूसरे के सम्पर्क में महाराष्ट्र में जितना आते है उतना अन्यत्र नही। वहा न तो 'स्वामी' है और न 'महन्त' अथवा 'गुरु' जिनका प्रभाव अन्य स्थानों की तरह साथ-साथ टकराता हुआ चल रहा हो। वैष्णव सन्तो के प्रभाव में वहां के तथाकथित शूद्र भी युद्ध अथवा शान्ति के अपने-अपने पेशे के अनुसार अपनी उस शूद्रता से, जैसा कि उन्हें पुराने ग्रन्थो में माना गया था, उबर कर क्षत्री अथवा वैश्य हो गए है। शूद्रों में, यहा तक कि अछूतो में भी ऐसे सन्त तथा कवि पैदा हुए है जिनके नाम की पूजा ब्राह्मणो समेत महाराष्ट्र के सभी लोग करते है। और तो और, इन नरम-पंथियों के सामने मुसलमानो ने भी अपनी धर्मान्धता छोड दी है। मुसलमानो के बड़े बडे त्योहारो को हिन्दू अपना त्योहार मानते हैं, और जिन क्षेत्रो में उत्तर भारत का कुप्रभाव नही है, वहा मुसलमान भी हिन्दुओं की इस भावना की कद्र करते है। हिन्दू सन्तो के साथ कुछ मुसलमान फकीरों का भी समादर होता है और कुछ सन्त तो ऐसे है जिन्हें दोनों समुदायों की श्रद्धा समान रूप से मिली हुई है। सहिष्णुता तथा नरमपथी के ये गुण कई शताब्दियो में विकसित हुए है और इनकी मान्यता यहां के राष्ट्रीय चरित्र के सर्वाधिक स्थायी गुणो में है।

देश की प्रकृति और देशवासियो तथा उनकी संस्थाओं के चरित्र के कारण, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है, यहां के लोगो में एक ऐसी स्थानीय स्वाधीनता अथवा स्वायत्तता की भावना उत्पन्न हो गई जिसके कारण हिन्दू अथवा मुसलमान किसी भी प्रकार के शासक का राजनैतिक नियंत्रण उन पर लम्बी अवधि के लिए न हो पाया। उत्तर तथा पूर्व में स्थापित बड़े-बड़े साम्राज्यों की बात तो सुनाई

देती है, और दक्षिणी प्रायद्वीप में कुछ ऐसा ही हुआ है, किन्तु महाराष्ट्र का राजनैतिक प्रबन्ध सदा पृथकतावादी तथा किसी केन्द्रीय शक्ति के देर तक चलाए जाने के विपरीत रहा है । किन्तु इस पृथकता की प्रवृत्ति से उत्तर के हमलावरों को एक होकर मार भगाने के उनके संकल्प में कभी कोई कमी नहीं आई । प्राचीन परम्परा से मान्यता चली आई है कि ईसाई युग के शुरू-शुरू में भी शालिवाहन तथा सातवाहन ने एक विदेशी आक्रामक को खदेड़ भगाया था । उसके छः सौ वर्षों बाद इसी प्रकार का एक और आक्रमण महाराष्ट्र के एक दूसरे शासक, चालुक्य राजवंश के राजा पुलकेशि द्वारा निष्फल कर दिया गया था । देश छोटे-छोटे राज्यों तथा जागीरों में बंटा हुआ था और सिक्कों, पटलेखों तथा शिलालेखों से पता चलता है कि उसके प्राचीन इतिहास से भी सत्ता के केन्द्र निरन्तर स्थानान्तरित होते रहते थे । इस प्रकार तगारा, पैठन, बदामी, मालखेड़, गोवा, कोल्हापुर, कल्याणी, देवगिरी अथवा दौलताबाद सभी बारी-बारी से कभी चालुक्य कभी राष्ट्रकूट और कभी यादव राजाओं के अधिकार में आते रहे, तथा चालुक्य, नलवडे, कदम्ब, मोरे, शिलहर, अहीर तथा यादव वंशों के लोग सत्ता प्राप्त करने के लिए एक दूसरे से संघर्ष करते रहे। यवन शक्ति के आगमन तक लगभग यही स्थिति बनी रही और चौदहवीं शताब्दी के शुरू तक जब उनका दक्कन पर भी आक्रमण हुआ, उत्तर भारत में लगभग दो सौ वर्षों तक मुसलमानों का ही शासन कायम रहा । मैदानी भागों की हिन्दू शक्तियों को परास्त करने में मुसलमानों को लगभग तीस वर्षों का समय लगा पर वे कोंकण तथा महाराष्ट्र के पश्चिमी भाग को कभी पूरी तरह से अपने अधीन न कर सके । कोंकण तो पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक भी अविजित रहा, और घाटमाथा तथा मावल को तो उस अर्थ में कभी भी जीता न जा सका जिस अर्थ में मुसलमानों ने 'देश प्रान्त' पर विजय पाई थी ।

पश्चिम के पहाड़ी इलाकों में लोगों की आदतों तथा भाषा में बदलाव के रूप में मुसलमानों का प्रभाव लगभग बिलकुल नहीं रहा क्योंकि उन पर पहाड़ी दुर्गों के हिन्दू सेनापतियों का कड़ा शासन था । संख्या की दृष्टि से भी वह अत्यन्त नगण्य रहा क्योंकि पश्चिमी महाराष्ट्र में उनकी आबादी का प्रतिशत हमेशा बहुत थोड़ा ही बना रहा । इन प्रदेशों में मुसलमानों का आधिपत्य कभी भी बहुत मजबूत अथवा स्थायी न हो सका । इसके विपरीत उत्तरी तथा पूर्वी भारत में मस्जिद तथा मक[illegible] ऊंचे उठते गए और भारी जनसंख्या वाली जगहों पर हिन्दू मन्दिरों की [illegible] खटकने लगी और उन्हें गलियों के कोनों में फेंक दिया गया और लोगों को [illegible] के लिए भी चुपचाप, छिप-छिप कर जाना पड़ता था । मुसलमानों की भाषा [illegible] साहित्य का भी काफी गहरा प्रभाव पड़ा, और घरों तथा बाजारों में भी [illegible] पड़ी और उसी से उत्पन्न हुई आधुनिक उर्दू भाषा । पर महाराष्ट्र के [illegible] में

प्रकार का कोई अन्तर नही आया; लोगों का धर्म, लोगों की भाषा फलती-फूलती रही और मुसलमान शासन में भी विकसित होती रही।

यहा पर इस बात का उल्लेख रोचक होगा कि मुसलमान सत्ता को दक्कन में धीरे-धीरे समाप्त कर उसे कैसे हिन्दुओं के प्रभाव में लाया गया।

पहली बात तो यह है कि दक्कन के मुसलमान उत्तरी-पश्चिमी सीमाओं पर अपने घरो से दूर बसे हुए थे, और सेना में उनकी नियुक्ति भी उत्तर के मुसलमानों की तरह नए-नए हमलावरो द्वारा नियमित नही कर दी जाती थी। उत्तर में तो अफगान, तुर्क, गिलचिस, उजबेग अथवा मुगल जो भी आए, उनके हमलों के साथ मुसलमानी परम्परा सुदृढ होती रही; पर दक्कन में बात कुछ और ही थी और तुर्कों तथा अफगानों आदि को कोई जरूरी नही कि सेना में फिर से रख लिया जाता रहा हो।

दूसरे, बहमनी राज्य का संस्थापक उत्तर भारत के एक ब्राह्मण, गंगू का गुलाम था, जिसने भविष्यवाणी की थी कि एक दिन उसका सितारा चमकेगा; और जब उसके (जिसका नाम हसन था) हाथ में सत्ता आई और वह अपने राज्य को 'बहमनी साम्राज्य' का नाम देने में सफल हुआ, तब वह अपने को भी हसन गंगू बहमनी कहने लगा। इससे हिन्दुओ का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है और यह भी साबित होता है कि उत्तर तथा दक्कन के मुसलमानों में अन्तर था। बाद में गंगू को दिल्ली से बुलाकर उसे वित्त विभाग सौंप दिया गया।

तीसरे, इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप खजाने तथा लगान की वसूली का पूरा प्रबन्ध काफी दिनो तक हिन्दू अधिकारियो के हाथ में रहा—जिनमें ज्यादातर दिल्ली के ब्राह्मण तथा खत्री थे—और फिर वह धीरे-धीरे दक्कन के ब्राह्मणों तथा प्रभुओ के हाथ में आ गया।

चौथे, जब बहमनी साम्राज्य बीजापुर, बरार, अहमदनगर, बीदर तथा गोलकुण्डा के पाच छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया तब भी गांवों और महालो की वसूली का हिसाब मूल देशी भाषा में ही—न कि विदेशी फारसी अथवा उर्दू भाषा में—रखा जाता था।

पाचवे, दक्कन में मुसलमानों के राज्य पर हिन्दुओं का प्रभाव एक और तरह से भी कार्य कर रहा था। 1347 में दिल्ली के बादशाह मुहम्मद तुगलक के खिलाफ आन्दोलन हुआ जो कि कुछ बड़े मुसलमान घरानों का ही एक षड्यन्त्र था। वह

आन्दोलन भी इसीलिए सफल हो सका, क्योंकि उसमें तेलंगाना तथा विजयनगर के राजाओं का भी सहयोग था। बाद में बहमनी राजाओं ने तेलंगाना के हिन्दू राज्य को अपने हाथ में कर लिया, किन्तु फिर भी विजयनगर राज्य लगभग और दो सौ वर्षों तक हिन्दुओं के ही हाथ में रहा। बाद में 1564 में तालीकोट की लड़ाई में वह भी छिन गया और पांच मुसलमान शासकों की एक मिली-जुली सरकार बन गई। इस प्रकार हिन्दुओं का प्रभाव मुसलमान शासकों पर युद्ध तथा शान्ति दोनों अवस्थाओं में काफी गहरा बना रहा, और कभी-कभी तो उसे झुकाने में गोलकुण्डा तथा अहमदनगर की मिली जुली सेना भी असमर्थ रही। बहमनी के तीसरे बादशाह को विजयनगर के राजा से एक समझौता करना पड़ा था, जिसके परिणामस्वरूप एक भीषण लड़ाई के बाद निहत्थी जनता का अंधाधुंध मारा जाना खत्म कर दिया गया और समझौते के किसी नियम का उल्लंघन किए बिना यह पाबन्दी लगभग सौ वर्षों तक कायम रही।

छठे, हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच इस शक्ति-सन्तुलन के कारण दक्षिण के मुसलमानों ने उत्तर के मुसलमानों वाली अपनी सारी ज्यादतियां बन्द कर दीं। इसलिए नई विदेशी सत्ताओं के आने पर भी दक्कन के हिन्दुओं में किसी प्रकार का भय अथवा निराशा का भाव नहीं पैदा होता था। अपने शासकों से असन्तुष्ट हो जाने पर मुसलमान टुकड़ियां विजयनगर की सेना में शामिल हो जातीं और इसी प्रकार मराठा 'शिलेदार' और 'बारगीर' भी बिना किसी अड़चन के शत्रु की सेनाओं में पहले छोटे और बाद में बड़े पदों पर नियुक्त हो जाते थे। बहमनी के दूसरे राजा के अंगरक्षक दो सौ 'शिलेदार' ही थे। सेनाओं में इस प्रकार के अनुभव के परिणामस्वरूप शक्ति, शिक्षा तथा धन सभी कुछ मिलता था। सोलहवीं शताब्दी में घड़गे, घोरपड़े, जाधव, निम्बालकर, मोरे, शिन्दे, दफने और माने आदि न जाने कितने ऐसे नाम सुनाई देते हैं जो दस से बीस हजार घोड़ों वाली सेनाओं के सेनापति थे, और उन्हें उसी अनुपात में जागीरें भी मिली हुई थीं। बाहर से आए तुर्क, फारसी, अबीसिनियन तथा मुगल सिपाही बहुत लालची थे—साथ ही झगड़ालू ज्यादा और उपयोगी कम थे—इसलिए लोगों का विश्वास मुख्यतः देश के ही 'बारगीरों' और 'शिलेदारों' पर ही जमता गया।

सातवीं बात यह है कि उसी दिशा में एक और प्रभाव भी कार्य कर रहा था, और वह यह था कि दक्कन के मुसलमान शासकों ने अपने जनानखानों में हिन्दू बीवियां रख छोड़ी थीं। बहमनी के सातवें शासक का सम्बन्ध विजयनगर के राजपरिवार से था। बहमनी वंश के नवें राजा ने भी सोनखेड़ के हिन्दू राजा की कन्या [illegible] था। मुकन्दराव ब्राह्मण की बहन बीजापुर के शाह यूसुफ आदिलशाह की [illegible]

बाद में चलकर वही वहा की मलिका भी बनी और उनका नाम बूबूजी खानुम पड़ा। यूसुफ की मृत्यु के बाद उन्हीं के बेटो को गद्दी भी मिली। बीदर के वारिद राजवंश के पहले शासक के बेटे की शादी साबाजी मराठा की बेटी से हुई जो वहमनी राजाओं की सेवा में थे और जिनका काफी मान-सम्मान भी था।

आठवें, मुसलमान बन गए हिन्दुओ के प्रभाव को भी इसी श्रेणी में रखना चाहिए। अहमदनगर का पहला राजा बरार के एक ब्राह्मण कुलकर्णी का बेटा था। कुलकर्णी मुसलमान हो गए थे और विजयनगर के राजाओं की सेवा में थे। उनका ब्राह्मण कुलनाम भैरव 'बहरी' हो गया, पर वे अपने वंश को बड़ी वफादारी के साथ याद करते रहे। उन्होंने पाथ्री पर विजय प्राप्त कर उसे ब्राह्मण कुलकर्णियों को इनाम में दे दिया, जिसके लिए उन्हें बरार के शासको से एक लम्बे समय तक संघर्ष भी करते रहना पड़ा। बरार में इमादशाही राजवश का प्रथम संस्थापक भी एक ब्राह्मण का बेटा था। वह ब्राह्मण विजयनगर राज की सेवा में था। बाद में उसे बन्दी बना लिया गया था और उसका धर्म-परिवर्तन हो गया था। इसी प्रकार वारिद राजवश का प्रथम शासक मराठा सिपाहियो को इतना प्रिय हो गया था कि करीब चार सौ मराठा सिपाही मुसलमान हो गए और वे उसके सबसे अधिक विश्वास-पात्र भी साबित हुए।

नवें, इन सभी बातो के मिले-जुले प्रभाव से एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हुई कि दक्कन के मुसलमान शासको के लिए अपनी धर्मान्धता, दुराग्रह अथवा क्रूरता को चलाते रहना असम्भव सा हो गया। हालाकि कभी-कभी अहिंसा भी भड़क उठती थी, पर आमतौर पर हिन्दू प्रजा के प्रति सहनशीलता का भाव ही बना रहा और सैनिक तथा असैनिक दोनों प्रकार के अधिकार धीरे-धीरे हिन्दुओ के हाथो में आ गए। हिन्दू मन्दिरो को दान में मुसलमान राजाओ से भूमि आदि भी मिलती थी, अस्पतालो में हिन्दुओ को चिकित्सक नियुक्त किया जाता था। ब्राह्मण-समाजो को अनुदान दिए जाते थे। सोलहवी सदी के मध्य में गोलकुण्डा के मुख्य प्रशासक एक मरारराव थे। गोलकुण्डा शासन के अन्तिम दिनो में मदन पण्डित नामक एक दूसरे हिन्दू भी मन्त्रि-पद पर थे और उन्होंने ही शिवाजी और गोलकुण्डा के राजाओं के बीच मुगलो के खिलाफ मिलाप करवाया था। गोलकुण्डा में ही राजराय कुल का भी काफी महत्व था। जिलो से लगान की वसूली का दायित्व देशपाडे ब्राह्मण तथा देशमुख अथवा देसाई आदि मराठों पर था। इसी सन्दर्भ में बीजापुर में लगान वसूली के प्रबन्ध में सुधार लाने के लिए दादोपन्त, नरसो काले तथा येसू पण्डित के नाम भी काफी जाने हुए माने जाते हैं। गुजरात और मालवा के दरबारों में ब्राह्मण ही राजदूत बनाकर भेजे जाते थे और अहमदनगर में बुरानशाह प्रथम के समय में पेशवा के एक

ब्राह्मण मंत्री कमलसेन का काफी प्रभाव था। करीब उसी समय बीजापुर राज्य में येसू पण्डित भी 'मुस्तफा' नियुक्त हुए। इसी प्रकार गोलकुण्डा में अकन्ना तथा मकन्ना नामक दो ब्राह्मण भाइयों को भी काफी अधिकार प्रदान किए गए थे। उनकी सेवाएं इतनी महत्वपूर्ण समझी जाती थी कि जब बीजापुर के राजाओ को मुगलों के हमलो का सामना करना पडा तब उन्होंने इन भाइयो से मदद मागी।

दसवें, जैसे जैसे समय गुजरता गया वैसे-वैसे सेनाओं में हिन्दुओ की प्रधानता प्रत्यक्ष होती गई। 'फरिश्ता' ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि बहमनी राजाओं द्वारा नियुक्त सबसे पहले मराठा मनसबदार कामराजे, घडगे तथा हरनाइक थे। बहमनी के दूसरे राजा के अंगरक्षक दो सौ शिलेदार थे। सोलहवी शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षों में गोलकुण्डा, बरार तथा विजयनगर के दरबारों में बाघोजी जगदेवराव नायक ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राजाओ को बनाना और बिगाडना उनके बाए हाथ का खेल था। वह कर्नाटक में नायकवाडी हिन्दू सेनाओ के अधिपति थे और नाम से राजा न होते हुए भी वह एक राजा ही थे। सत्रहवी सदी के शुरू में मशहूर मुरारराव जगदेव ने भी बीजापुर के राजाओ की सेवा बड़ी निष्ठा के साथ निभाई। उन्होने मुगल आक्रमणो को सफल न होने दिया। वे और शहाजी भोंसले बीजापुर तथा अहमदनगर की शक्तियो को सहारा देते रहे। जिस कुचक्र के कारण मुरारराव का पतन हुआ उसमें तीन अन्य मराठा—राधोपन्त नामक एक ब्राह्मण, तथा एक भोंसले सरदार और घडगे नामक दो अन्य व्यक्ति—मुख्य रूप से शामिल थे। कोंकण की लड़ाइयों में चन्द्रराव मोरे तथा राजाराव ने मुरारराव की देखरेख में ही सफलता पायी। उन्ही दिनो म्हसवड का माने परिवार, वाडी के सावन्त, डफले और घोरपड़े भी काफी शक्तिशाली हो गए।

ग्राट डफ ने ऐसे आठ मराठा परिवारो का उल्लेख किया है जिन्होने शिवाजी के जन्म के, अथवा शहाजी के पिता मालोजी के शक्ति में आने से काफी पहले ही अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इनमें सबसे शक्तिशाली परिवार था बरार में सिन्दखेड के जाधवो का, जो शायद उस देवगिरि जाधव से सम्बन्धित थे जिसको अलाउद्दीन ने हराया था। लखोजी जाधव का इतना दबदबा था कि जब मुगल सम्राटो ने दक्कन पर अपना पहला आक्रमण किया तब उन्होने उससे सहायता मांगी। इसी प्रकार निम्बालकरों का भी काफी नाम था। मालवडी के झुझारराव घड़गे एक ऐसे परिवार के थे कि जिसने बीजापुर में बड़ा काम किया था। मोरे, शिर्के, कोंकण तथा घाटमाथा के महाडिक, गूजर तथा मोहिते, ये सभी बडे-बडे सेनापति थे और उनके अधिकार में दस से बीस हजार घोड़ों वाली सेनाएं थी। मराठा परिवारों में भोसले परिवार थोड़े से उन कुछ परिवारो में था जो जाधवो तथा निम्बालकरों से सम्बद्ध होने के कारण सत्रहवी शताब्दी के शुरू में काफी प्रतिष्ठित माना जाता था।

इस परिवार के संस्थापक थे मालोजी भोंसले और उनके बेटे शहाजी की स्थिति समाज में सबसे ऊंची थी। वह जिसको चाहते उसको राजा बना सकते थे, और अहमदनगर की दूसरी विजय के बाद वे वहा के निजामशाही राजाओं की ओर से मुगलो से भी लोहा लेते रहे।

उपर्युक्त प्रभावो तथा परिवर्तनों के परिणामस्वरूप सत्रहवी शताब्दी के शुरु में गोलकुण्डा, बीजापुर, नागपुर तथा बीदर के इक्के-दुक्के मुसलमान शासक सैनिक तथा असैनिक दोनो क्षेत्रों में मराठा योद्धाओं तथा राजनेताओं के ही वास्तविक नियन्त्रण में थे। घाट के पहाडी गढ़ो और उनके आसपास के क्षेत्रों पर भी मराठा जागीरदारों का ही अधिकार था, और मुसलमानों की प्रधान प्रभुसत्ता से भी उनका सम्बन्ध बस नाममात्र का था। राष्ट्रीय मुक्ति की यह शान्त प्रक्रिया धीरे-धीरे चल ही रही थी कि देश के लिए एक नया खतरा खड़ा हो गया और वह खतरा था अकबर से औरगजेब तक दिल्ली के सुलतानो का नर्मदा तथा ताप्ती नदियो के इस पार तक मुसलमानी सल्तनत को बढाने का प्रयास। वे अपने इस प्रयास में यदि सफल होते तो देश तीन सौ साल पीछे चला जाता। वैसे, यह नया खतरा था काफी भयानक, क्योकि मुसलमानो के पास दिल्ली सल्तनत की पूरी साधन-सम्पन्नता थी। दक्कन के मुसलमान शासको तथा उनके हिन्दू सलाहकारों ने भी इस खतरे की गम्भीरता को महसूस किया था। मराठा सेनाएं अपनी पृथकता की प्रवृत्ति के कारण मुगलो से खुले मैदान में लड़ने से कतराती थी, इसलिए परिस्थितिवश उन्हें लुक-छिपकर छापामारी की रण नीति का आश्रय लेना पड़ा। मराठा योद्धा मुसलमानी हमलों के पहले धक्के से तो उबर गए, और गत तीन सौ वर्षों की अवधि में उनकी एक होकर जुट जाने की शक्ति भी बढी थी। उन्होंने देख लिया था कि मुसलमानों को इन्तजार कराते रहने के खेल से, ताकि इस बीच वे अपने को ऐशो-आराम में खत्म कर दें, कोई अधिक फायदा नही था। नए खतरो के साथ ही साथ रण-कौशल के नए-नए तरीकों को अपनाना भी जरूरी था, पर रण की सभी नीतियों से ज्यादा जरूरी था एक नई स्फूर्ति का उदय और एक उदार धार्मिक उत्साह से पैदा हुई समान देशभक्ति। आवश्यक हो गया था कि मराठा शक्ति के बिखरे विन्दुओं को एकता के सूत्र में पिरोया जाए और देश के प्रति अनुराग तथा सभी के सामान्य उद्देश्य से प्रेरित एक संघ की स्थापना हो। शिवाजी का सबसे बडा गुण यह था कि उन्होंने इस खतरे की गम्भीरता को समझा था, विघटन की प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की थी, और समान धर्म के नाम पर समान शक्तियों को एक जगह संचित किया था। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व में घुल-मिल गया था न केवल उनके समय का सम्पूर्ण बल, पर वे प्रतीक थे आत्मा को स्पन्दित करने वाली उस विचारधारा के भी, जिससे अनुप्राणित होकर मराठों ने अपने सामने एक समान उद्देश्य रखा और उसी को समय की सबसे बड़ी पुकार के

रूप में पहचाना। उन्होंने मराठा शक्ति को कोई नया जन्म नहीं दिया, वह शक्ति तो पहले से ही विद्यमान थी, पर वह एकत्रित न होकर पूरे देश में बिखरी सी पड़ी हुई थी। उन्होंने उस शक्ति को एक उच्च उद्देश्य के लिए एकता के सूत्र में बांधा, और वह उद्देश्य था, उस सब के लिए समान खतरे का सामना करना। यही उनका सबसे बड़ा गुण था, और देश के प्रति यही उनकी सबसे बड़ी सेवा थी, और इसीलिए कृतज्ञतापूर्वक लोग आज भी उनको याद करते हैं। इस तेजस्वी नेता से लोगों की आशाएं भी यों ही नहीं बंधी थीं। शिवाजी ने स्वयं भी महसूस किया था कि वे किसी दैवी प्रेरणा से अनुप्राणित हैं, और उन्होंने उसका संचार अपनी पीढ़ी के लोगों में ही नहीं, अगली कई पीढ़ियों में भी किया। मराठा साम्राज्य द्वारा हिन्दू शक्ति की पुनर्स्थापना में भी उसी प्रेरणा का हाथ था, और उस शक्ति के केन्द्र भारत में जहां जहां भी स्थापित हुए वहां शिवाजी का प्रोत्साहन ही कार्य कर रहा था। इस प्रकार मराठा साम्राज्य की आधार-भूमि के निर्माण के पीछे कुछ तो महाराष्ट्र की प्राकृतिक दशा थी, कुछ उसका प्राचीन इतिहास था और कुछ था लोगों का धार्मिक पुनर्जागरण। पर सबसे बड़ी बात थी मुसलमानों के तीन सौ वर्षों के शासनकाल के दौरान उत्पन्न हुई मराठा सेनाओं की अनुशासन-प्रियता।

अध्याय 3

बीज का आरोपण

सत्रहवीं शताब्दी की पहली तिमाही में दक्कन निवासियों की मन स्थिति उत्सुक अपेक्षाओं की मन स्थिति थी, और उनमें उन भावनाओं का बीजारोपण हो चुका था जिनकी आधार-भूमि के निर्माण में करीब तीन सौ वर्ष लगे थे और जिसका वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहां उस राजनैतिक स्थिति पर भी प्रकाश डालना उपयोगी हो सकता है जिस में मराठा राज्य संघ के संस्थापक शिवाजी शिवनेर में उत्पन्न हुए थे। अहमदनगर राज्य का निजामशाही राजवंश समाप्त हो चुका था। 1596 में मुगलों को चादबीबी के वीरतापूर्ण मोर्चेबन्दी के कारण शहर से अपनी सेनाओं को हटा लेना पड़ा था। किन्तु फिर तुरन्त ही आन्तरिक मतभेद पैदा हो गए और 1599 में चादबीबी की हत्या कर दी गई। किले पर मुगल सेनाओं का अधिकार हो गया और राजा को बन्दी बनाकर बरहानपुर भेज दिया गया। राजवंश के समर्थकों ने पहले तो मुकाबला किया, पर फिर पराजय स्वीकार कर ली। सत्ता का केन्द्र हो गया दक्षिण में पराण्डा और फिर जुन्नर। गद्दी पर बैठा एक नया शासक मलिकाम्बर जो निजामशाही का वशज था। उसने दक्कन की सेनाओं का नेतृत्व किया, अहमदनगर को फिर से जीता और मुगलों तथा उनके समर्थक बीजापुर के आदिलशाही राजाओं को भी बीस से अधिक वर्षों तक दक्कन से दूर रखा।

मुगलों के साथ मलिकाम्बर के लम्बे संघर्ष में शिवाजी के पिता शहाजी फलटण के निम्बालकर नाइक, तथा महान लाखोजी जाधवराव अहमदनगर के राजाओं के साथ थे, और यद्यपि वे 1620 में हार गए, फिर भी उनकी पराजय का कारण था मुसलमान नवाबों की अनुशासनहीनता, न कि मराठा सिपाही जो बड़ी बहादुरी के साथ लड़ते रहे। उसके बाद लाखोजी जाधवराव मुगलों से जा मिले और मुगलों ने भी 1621 में उनके ऊपर 15 हजार घोड़ों तथा दो हजार पैदल सिपाहियों का नेतृत्व सौंप दिया। मलिकाम्बर को भी अपना अहमदनगर का राज्य सौंप देना पड़ा, फिर भी वह अपनी सेनाओं को एकत्र करते रहे, किन्तु, 1626 में उनका अचानक निधन हो गया और इस प्रकार वह एकमात्र व्यक्ति जो अपने चारों ओर शक्ति का संचय कर देश को बचा सकता और सफलता प्राप्त कर सकता, हमारी आंखों से ओझल हो गया। यहां तक कि शहाजी भोंसले

ने भी निज़ामशाही के शासक से अपने सारे सम्बन्ध तोड़ लिए और वे पाच हज़ार घोड़ों वाली एक मुगल टुकडी के सेनापति हो गए । 1631 में निज़ाम को उनके एक मंत्री ने, जो मलिकाम्बर का बेटा था, मार डाला । घोर नैराश्य की इस स्थिति में एक सन्तोषप्रद घटना यह हुई कि शहाजी भोसले अपने पुराने मालिकों के बचाव के लिए पुन लौट आए और उन्होंने निज़ामशाही के तख्त के एक अन्य उत्तराधिकारी की घोषणा की । उन्होंने कोकण और नीरा नदी से लेकर चन्दोर की पहाड़ियों तक पूरे प्रान्त में अपना अधिकार कायम कर लिया और मुगल सम्राटों को, शहाजी को एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाते रहने के लिए 25 हज़ार सिपाहियों की सेना भेजनी पडी । यह संघर्ष चार वर्षों (1632--1636) तक चलता रहा, पर कठिनाइया काफी बडी थी, और अन्त में शहाजी को शाहजहा की बेहतर सेना के सामने पराजय स्वीकार करनी पडी । फिर वह सम्राट की सहमति से 1637 में बीजापुर के राजाओ की सेवा में नियुक्त हो गए ।

इस प्रकार जीते गए अहमदनगर के क्षेत्रों को मिलाकर औरंगाबाद का नया सूबा बनाया गया । इस नये सूबे में नासिक तथा खानदेश के कुछ हिस्से, समूचा बरार तथा उत्तरी कोंकण के कुछ हिस्से शामिल किए गए । राज्य का शेष हिस्सा, विशेषकर भीमा तथा नीरा के बीच का भाग, बीजापुर के राजाओं के हिस्से में आया । अब मुगलों ने अपनी सेनाओं को बीजापुर के आदिलशाही राजाओं के खिलाफ लगा दिया--अर्थात् उन्ही के खिलाफ जिन्होंने अहमदनगर की बर्बादी में उनकी मदद की थी । दोनों शक्तियों के बीच पहली औपचारिक सन्धि हुई 1601 में, और फिर एक वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उस सन्धि को सुदृढ किया गया । पर ये रास्ते की अस्थायी बाधाएं मात्र थी । 1626 ई० में बीजापुर के सर्वश्रेष्ठ राजा इब्राहिम आदिलशाह का देहान्त हो गया और उसके उत्तराधिकारी मोहम्मद आदिलशाह को मुगलों की सेना से शहर को बचाना पड़ा । मुगलों ने पहला घेरा 1631 तथा दूसरा 1636 में डाला और अन्त में आदिलशाह को उनसे शान्ति का समझौता करना ही पड़ा । उसने दिल्ली के सुलतान को बीस लाख रुपये का नज़राना देना स्वीकार किया । उसने उनको शहाजी को भी सौंप दिया जो अभी भी निज़ामशाही राजाओ के समर्थन में ही कार्य कर रहे थे । फिर शीघ्र ही शहाजी बीजापुर की सेवा में आ गए और कर्नाटक भेज दिए गए । कर्नाटक में उन्होंने कई लड़ाइयां जीती और अपने एक बेटे के लिए कावेरी की घाटियों में एक राज्य भी स्थापित किया । बरार और बीदर में मुसलमानों के गढ पहले ही टूट चुके थे और उनकी भूमि को अहमदनगर तथा बीजापुर के राज्यों में शामिल कर लिया गया था । नाम मात्र के लिए स्वाधीन रह गया था सिर्फ गोलकुण्डा, और शाहजहां को नज़राना भेजने की बात स्वीकार कर वह एक बार फिर बच गया । पर मुगलों ने युद्ध-कर के रूप में एक

बहुत बड़ी रकम फिर मांगी जिसको देने में वह असमर्थ था, पर उसे अन्त में उनकी शर्त स्वीकार करनी ही पड़ी क्योंकि उसकी राजधानी हैदराबाद को शाहजहां के बेटे औरंगजेब ने अचानक हथिया लिया था और उसे गोलकुण्डा के किले में बंदी बना दिया था।

पुर्तगालियों की शक्ति भी, जो सोलहवीं शताब्दी में काफी बढ़ गई थी, अब लगभग समाप्त हो चुकी थी और कोंकण के तटवर्ती हिस्सों में अपने को बचाने में लगी हुई थी। सूरत में अंग्रेज़ी कम्पनी का एक कारखाना भी खुल गया था, पर उसका कोई राजनैतिक महत्व नहीं था।

इस प्रकार शिवाजी के जन्म तथा उनके बचपन की अवधि में जो सबसे महत्वपूर्ण राजनैतिक घटना घट रही थी, वह थी मुगलों की सेनाओं का दक्षिण की ओर बढ़ना। मुगलों की भारी तथा मानी हुई सेनाओं के सामने दक्कन के सिपाही असमर्थ थे, क्योंकि मुगलों ने वास्तव में अपने साम्राज्य को काबुल से लेकर बंगाल की खाड़ी तक, और कामुल की पहाड़ियों से लेकर दक्कन के मध्य तक काफी विस्तृत कर लिया था। तीन सौ वर्ष पहले की वही परिस्थितियां अब एक बार फिर उभर रही थीं—और उन पर विजय पाना मुश्किल हो रहा था—जो 1216 में अलाउद्दीन के हमले से पैदा हुई थी। दुश्मनों की भारी ताकत के सामने हिन्दुओं को घुटने टेकने पड़े थे पर अफगान तथा तुर्क शासकों की गुलामी में उन्होंने कठिन अनुशासन सीखा था और वे अक्लमन्द हो गए थे। इसलिए उन्होंने विदेशियों की अधीनता की तेज़ी को कम कर लिया था और उनकी जोर-जबरदस्ती को भी लगभग समाप्त कर दिया था। उनकी अपनी भाषा ही सरकारी तथा दरबार की भाषा हो गई थी।

देश की लगान वसूली का पूरा प्रबन्ध भी उन्हीं के हाथ में था। लड़ाई के मैदानों में भी उनके सेनाध्यक्षों से उन्होंने कमाल हासिल किया था। मुराररा‌व तथा शहाजी भोसले बीजापुर के शासकों के समर्थक थे। गोलकुण्डा पर मदन पण्डित का अधिकार था। बड़े नवाबों के हाथ में थे पश्चिम के घाट, मावल तथा पहाड़ी गढ़। चन्द्रराव मोरे के अधिकार में कृष्णा के स्रोत से लेकर वरना तक पूरा का पूरा घाटमाथा था। सावन्तों के पास दक्षिण कोंकण था, निम्बालकर फलटण के शासक थे तथा डफले और माने पूर्वी सतारा क्षेत्र पर राज कर रहे थे। भोसलों का अधिकार पूना पर था और उनकी जागीर सुदूर पूर्व में बारामती से इन्दापुर तक फैली हुई थी। इसी प्रकार घोरपडे, घडगे, महाड़िक, मोहिते तथा मामुलकर सभी बड़ी-बड़ी घुड़सवार तथा पैदल सेनाओं के अध्यक्ष थे। इस प्रकार गोलकुण्डा, बीजापुर तथा अहमदनगर की सेनाओं में लड़ रहे सिपाहियों में सबसे अधिक विश्वसनीय मराठा सैनिक ही थे, और इन्हीं का साहस था, उत्तर की भारी सशस्त्र सेनाओं से लोहा लेते रहने का, और इन्होंने ही

उनकी कमज़ोरी तथा उनकी ताकत को समझा था । इन परिस्थितियों में जब देश पर मुगलों के नए हमलों का खतरा पैदा हुआ तब यह स्वाभाविक ही था कि लोगों के मन में ऐसे नए-नए विचार उद्वेलित होते जो तीन सौ साल पहले उनके पुरखों के मन में कभी उत्पन्न भी न हुए हों । उन तीन सौ वर्षों ने लोगों के मस्तिष्क में भयानक घटनाओं की स्थायी स्मृतिया छोडी थी और इस बात की आशंका एक बार फिर पैदा हो गई थी कि मुसलमान विजेताओं की क्रूर धार्मिक कट्टरता तथा असहिष्णुता कही अपना सिर फिर न उठाने लगे । उन तीन सौ वर्षों में हिन्दुओं की धार्मिक भावना का भी पुनर्जागरण हुआ था । कर्नल वाइक्स ने अपने 'मैसूर के इतिहास' में एक भविष्यवाणी का उल्लेख किया है जो कि उसने मैकेन्ज़ी द्वारा संकलित 1646 की एक हिन्दू पाण्डुलिपि में पाई थी । उस भविष्यवाणी में पैगम्बर ने कहा था कि "सारे धर्मों तथा सारी अच्छाइयों के नष्ट हो जाने, और देश के महानतम लोगो के अत्यन्त अपमानित होने के बाद अन्त में मुक्ति का शुभागमन होगा जिसकी घोषणा होगी कुआरियों के उल्लास-गायनो में और आकाश अपने सारे फूल बरसा देगें ।" इस भविष्यवाणी का लेखन दक्षिण भारत में उस समय हुआ था जब शिवाजी का नाम पूना की जागीर के बाहर नही जाना जाता था । कर्नल वाइक्स के कथनानुसार यह भविष्यवाणी सच तब साबित हुई जब लोगों ने एक होकर देश के उद्धार का बीड़ा उठाया और जो कार्यान्वित हुआ शताब्दी के शुरू में ही राजा शिवाजी की प्रतिभा तथा पराक्रम से ।

मुसलमान इतिहास लेखकों ने शिवाजी को 'ज़ालिम' अथवा 'लुटेरा' कहकर उनकी भर्त्सना की है, पर देसी 'बखरो' अथवा इतिहासकारों ने पुराणों के प्राचीन आदर्शों के अनुकूल उनकी तुलना उस गाय से की है जो आकाश की ओर अपना मुख कर देवताओं से धरती की मुक्ति की याचना करती है, और देवताओं के परम देवता भी अवतार लेकर अपने दलित भक्तों का उद्धार करने की प्रतिज्ञा करते हैं । इसी अनुरागमय अन्ध-विश्वास की भावना से प्रेरित हो देश के इतिहासकारों ने शिवाजी को उदयपुर के शाही घराने का वंशज माना है । पर शिवाजी न तो कोई लुटेरे अथवा 'दस्यु' थे और न कोई अवतार । उनकी शक्ति का कारण यह भी नही था कि वे राजपूतो के वंशज थे । उनकी कुलीनता के श्रेय थे उनके माता-पिता जीजाबाई तथा शहाजी । उनकी माताजी लाखोजी जाधवराव की पुत्री थी; और उनका अपना विवाह हुआ था सुप्रसिद्ध जगदेवराव नाइक निम्बालकर की कुलीन कन्या से । ऐसे माता-पिता का पुत्र होना अपने आप में एक विशेष बात थी और यह किसी भी कल्पना अथवा किंवदन्ती से अधिक महत्वपूर्ण थी। वह एक ऐसे व्यक्ति थे जिनके व्यक्तित्व में समाहित थीं युग और उनके कुल की श्रेष्ठतम आकांक्षाएं । ऐसे महान लोगो का जन्म ऐसे समय और ऐसे देश में होता है जहाँ का जन-मानस उनको समझने तथा समर्थन देने की क्षमता रखता है ।

लोग जिस भावना से प्रेरित होकर स्थिति के प्रति आशावान हो रहे थे वह उनके विवेक अथवा धर्म-निरपेक्षता का परिणाम नहीं थी। उस विवेक की प्रतिमूर्ति तो थे उनके अनुभवी गुरु, जिनको शिवाजी के पिता ने उनके शिक्षण-प्रशिक्षण का दायित्व सौंपा था। गुरु के व्यक्तित्व में थी एक पूरे अतीत की एक साकार प्रतिमा और शिष्य के हृदय में कुलाचें ले रही थी एक सुन्दर भविष्य की आशामयी कल्पना। विवेक के ही तो प्रतीक थे उनके दादा, लाखोजी जाधवराव, और पिता शहाजी जो कभी एक राज्य की सेवा करते और कभी दूसरे और जिस राज्य का सितारा डूबता उस राज्य को छोड़कर अपना मुख कर लेते थे किसी उगते हुए सूर्य की ओर। इस बात का उल्लेख भी लगभग हर आख्यान में हुआ है कि शिवाजी शुरू से ही रामायण तथा महाभारत सुनने में काफी रुचि रखते थे। यदि कहीं कथा हो रही हो, विशेषकर प्रख्यात कथा-वाचकों द्वारा, तो उसे सुनने के लिए वे पैदल कई-कई मील तक चले जाते थे। उनका मन, एक अत्यन्त ही धार्मिक ढांचे में ढला हुआ-सा था, और वे अपने पूरे, उतार-चढ़ाव से भरपूर जीवन-काल में धार्मिक भावना से ओत-प्रोत रहे। इसके कारण उनके मन में कुछ अन्य ऐसी संभावनाओं का भी विश्वास उत्पन्न हुआ जो उनके विवेकपूर्ण गुरु तथा निकट के सम्बन्धियों में नहीं था। शिवाजी ने मन ही मन महसूस किया था कि धार्मिक जोश से अधिक प्रेरणादायक तत्व कोई और नहीं हो सकता। इसी भावना से प्रेरित था उनका वह जीवन-लक्ष्य जिसके सामने उन्होंने व्यक्तिगत इच्छा अथवा उन्नति को कोई महत्व नहीं दिया। यह और बात है कि उस परम लक्ष्य की परिकल्पना उनके मन में जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में नहीं उत्पन्न हुई थी। उनके जीवन के शुरू-शुरू के साहसिक कार्य जवानी के जोश मात्र थे और उनमें परिपक्वता नहीं आई थी। पर उनके जीवन के दिन जैसे-जैसे गुजरते गए, उनको यह प्रतीत होता गया कि उनके सामने कोई बड़ा लक्ष्य है जिसे उपलब्ध करना है। इतिहास में इस बात का उल्लेख है कि उन्होंने अपने जीवन में तीन बार सब कुछ त्याग कर, सांसारिक जीवन से विरक्त होकर मोक्ष की खोज करने का संकल्प किया था। इन सभी अवसरों पर उनके गुरुओं और मंत्रियों को उन्हें यह समझाने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा था कि उनका सही कर्तव्य क्या है। जीवन में जब भी संकट की घड़ी आई और उनको लगा कि उनका एक गलत कदम भी उनकी आशाओं पर पानी फेर सकता है, तब-तब उन्होंने ईश्वर की प्रार्थना का आश्रय लिया और किसी ऐसे संकेत की याचना की जो उनके अन्तर में एक आवाज बनकर उभरता। ऐसा तभी होता जब उन्हें लगता कि उन के अन्दर कोई दिव्य शक्ति संचारित हो रही है। परामर्शदाताओं को आज्ञा थी कि वे यदि प्रश्नों के उत्तर सुन पाएं तो उन्हें अंकित कर लें ताकि उनकी सूचना बाद में शिवाजी को हो सके। पूरी निष्ठा के साथ शिवाजी उसी के सहारे कार्य करते थे। यह आवाज चाहे यह कहती कि औरंगजेब से समझौता कर लो, या दिल्ली जाकर अपने नों के कैदी हो जाओ, अथवा प्राणों की परवाह किए बिना अफजलखां से जाकर

अकेले मिलो—शिवाजी उसका पालन करते । इस आत्मानुभूति तथा उनके व्यक्तित्व पर देवी के अधिकार की इन कहानियों से एक बात स्पष्ट झलकती है कि उनके कार्य-कलाप मात्र धर्म-निरपेक्षता अथवा किसी गूढ़ नीति से परिचालित नहीं थे । उनकी प्रेरणा का स्रोत मनुष्य के साधारण अथवा असाधारण स्वभाव से कहीं ऊपर था ।

शिवाजी के चरित्र के इस गुण को विदेशी लेखक नहीं समझ पाए है, हालांकि उनकी यही मानसिक विशेषता उनकी दृढ़ता अथवा साहसिकता आदि गुणों से भी बढ़कर थी, और इसी के कारण वह अपने युग के प्रतिनिधि पुरुष हुए थे । इस देश में लोगों से धर्म में निष्ठा का आग्रह करना ही सबसे अधिक प्रेरणादायक शक्ति रही है। पिछले तीन सौ वर्षों में लगभग समूचा भारत मुसलमानों की झगड़ालू धर्म-नीति के कारण काफी आन्दोलित रहा है, जिसके कारण लोगों की क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं भी काफी तेज़ रही हैं । रामानुज, रामानन्द तथा अन्य वैष्णव मतावलम्बियों और पारम्परिक उपदेशकों के कारण लोग समझने लगे थे कि मोक्ष की प्राप्ति सब के लिए समान रूप से आवश्यक है, और ईश्वर के सामने ऊंच तथा नीच में कोई भेद नहीं । रामानन्द, कबीर, रामदास, रोहीदास, सूरदास, नानक तथा चैतन्य इन सभी के उपदेशों का मूल मंत्र यही था, और यही उत्तर तथा पूर्व भारत में प्रचारित भी हुआ । इनमें से कुछ के ऊपर मुसलमानों के एकेश्वरवादी सिद्धान्त की छाप स्पष्ट थी । दत्तात्रेय, अथवा हिन्दू त्रिमूर्ति के इस अवतार के उपासक अपने आराध्य देव को एक मुसलमान फ़क़ीर के रूप में सज्जित करते थे । यही प्रभाव महाराष्ट्र के जन-मानस पर और भी गहराई के साथ परिलक्षित था । वहा ब्राह्मण तथा गैर-ब्राह्मण सभी प्रकार के उपदेशक लोगों से 'राम' और 'रहीम' को एक मानने का आग्रह करते थे, और अनुरोध करते थे कि वे अपने को हर प्रकार के औपचारिक कर्म-काड तथा जात-पात के बन्धन से मुक्त कर मनुष्य-मनुष्य के प्रति प्रेम तथा एक ही ईश्वर में आस्था की भावना से बंध जाएं । राजनैतिक नेताओं के साथ ही साथ तुकाराम, रामदास, एकनाथ तथा जयराम स्वामी आदि धार्मिक नेता भी इस आन्दोलन में शामिल थे, जिसमें उच्चकुल के लोगों का ही नहीं, उच्च तथा निचले सभी स्तरों के लोगों का प्रतिनिधित्व था । विठोवा पंथ चल पडा था और धरती के स्वर्ग पंढरपुर में लोग हर वर्ष, हर गाव और शहर से हजारों की संख्या में आशु-कथाओं का श्रवण करने आते थे । इन कथाओं का प्रभाव कितना गहरा होता था, यह राजा सवाई जयसिंह की उस मंत्रणा से जाहिर है जो उन्होंने 1678 में औरंगज़ेब को तब दी थी, जब उसने अकबर द्वारा उठा लिए गए हिन्दू-कर 'जजिया' को फिर से लागू कर दिया था । उन्होंने औरंगज़ेब से कहा कि "ईश्वर सिर्फ मुसलमानों का ही नहीं, बल्कि पूरी मनुष्य जाति का मालिक है । उसके सामने मुसलमान और

काफ़िर सभी समान हैं। हिन्दुओ की धार्मिक रस्मों को बन्द करना उस सर्वशक्तिमान ईश्वर की इच्छा को कुचलने के समान है।" यह एक नई भावना थी, फिर भी यह सभी की भावना का प्रतिनिधित्व करती थी। इस सबसे बड़ी शिक्षा की शक्ति को मुसलमानों ने भी धीरे-धीरे समझना शुरू कर दिया था। उसी भावना से प्रेरित होकर अबुल फ़ज़ल तथा फैजी ने महाभारत तथा रामायण का अनुवाद किया। अकबर ने भी बडी लगन के साथ दोनों धर्मों को मिलाने का प्रयत्न किया, ताकि उसके माध्यम से धर्मों के सभी भेद समाप्त किए जा सकें। शाहजहां के बड़े बेटे दारा शिकोह ने गीता तथा उपनिषदो का अनुवाद किया। उसको इस भावना के पीछे हज़ारों दूसरे मुसलमानों की आकाक्षाएं भी थी, पर इसी कारण से औरंगजेब ने उसको उसके जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित कर उस पर चढ़ाई की और उसे मरवा डाला। उत्तर में कबीर जैसे मुसलमान सन्त और महाराष्ट्र में शेख मुहम्मद ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान रूप से उसी महा-उपदेश का गुर सिखाया, यद्यपि उनकी मृत्यु के बाद हिन्दू तथा मुसलमान दोनो के बीच उनकी उपासना चल पडी पर उन्हें अपने जीवनकाल में दोनो की धर्मान्ध कट्टरता के कारण अपमान सहना पड़ा।

तो ऐसी स्थिति थी उस समय। धार्मिक पुनर्जागरण हो रहा था और लोग यह समझने लगे थे कि धार्मिक कट्टरता का अन्त आवश्यक है। इस धार्मिक प्रवुद्धता से उत्पन्न हो रहा था परम्परा से चली आ रही पाशविक वृत्ति से अलगाव, और इसकी साकार परिणति हुई लोगों के इस संकल्प में कि मुसलमानों की असहिष्णुता को देश में फिर पनपने नही देना चाहिए। इसका प्रभाव सबसे अधिक कोल्हापुर एवं तुलजापुर की भवानी के उपासको ने अनुभव किया, और उनके हृदय में जो आग लगी थी उसकी आंच उन्होने अपने 'गोंधली' तथा 'भाट' चारणों के माध्यम से दूसरों तक पहुंचाई।

शिवाजी अपने समय के रामदास, तुकाराम तथा दूसरे धर्मोपदेशको से समानता के स्तर पर मिलते थे और उनके अपने व्यक्तित्व में ये नई आकाक्षाएं काफी गहराई तक घुली-मिली थी। उनकी अपनी ताकत और लोगों पर उनके प्रभाव का यही एक मुख्य स्रोत था, और यह एक संयोग मात्र नही था।

एक दूसरी बात जो शिवाजी के मन पर गहरी छाप डाल रही थी, और जिसे उनके पिता और गुरु भी समझ नही पाए थे, वह थी उनका यह विश्वास कि विदेशी मुसलमान विजेताओं के बढ़ते हुए खतरे का सामना एकता के साथ मिलकर ही किया जा सकता है। शिवाजी की इस नीति और इस लक्ष्य को उनके गुरु रामदास ने अपने पद्यों में अत्यन्त सारगर्भित शैली में व्यक्त किया है। ये पद्य उन्होने उनके बेटे सम्भाजी को सुनाए थे और उन्हें मराठों में एकता पैदा करने तथा लोगो में राष्ट्रधर्म के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने के लिए प्रेरित करने का आग्रह किया था। शिवाजी की नीति का यही परम लक्ष्य तथा उद्देश्य था और यही उनके कुछ विवादास्पद

कार्यों का कारण भी है । उन्होंने महसूस किया कि तीन सौ वर्ष पहले जैसे अफ़गानों का प्रभुत्व कायम हुआ था, वैसे ही अब मुसलमानों का भी स्थापित होगा—यदि देश के बड़े-बड़े लोग आपस में इसी तरह लड़ते-भिड़ते रहे—क्योंकि ये सभी केवल इस बात के लिए संघर्ष कर रहे थे कि उनकी अपनी जागीर थोड़ी और बड़ी हो जाए, या उनका 'वेतन' बना रहे चाहे पड़ोसी जागीरदारों को असुविधा ही क्यों न हो । समय की मांग यह थी कि एक समान उद्देश्य के प्रति लोगों में पारस्परिक विश्वास तथा एकता की नीति को अपनाया जाए और हिन्दू अथवा मुसलमान, दोस्त, दुश्मन, रिश्तेदार अथवा अजनबी, जो भी मार्ग में बाधा उपस्थित करे उसे दबा दिया जाए ।

भारत के इतिहास की यह अन्दरूनी कमज़ोरी, यह फूट, एक बड़ा खतरा बनकर लगभग हमेशा ही उपस्थित रही है । इसी को कहा गया है विघटन अथवा केन्द्र से टूटते रहने, अनुशासन अथवा आदेशों को न मानने की प्रवृत्ति । इसलिए इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि जब इस तरह की विघटित शक्तियां एक सुसंगठित शासन से टकराती तो उन्हें लड़ाई के मैदान में मुह की खानी पड़ती । प्रबन्ध की छोटी-छोटी बातों से लेकर बड़ी-बड़ी योजनाओं तक शिवाजी का यही प्रयास रहा कि लोगों की आकांक्षाएं कुछ इस प्रकार से ढलें कि जीत में सभी को समान गर्व, और हार में सभी को समान लज्जा का अनुभव हो । विघटन की शक्तियों के उदाहरण थे घड़गे, मोरे तथा घोरपड़े जिन्हें शिवाजी ने बड़ी सूझ-बूझ तथा कुशलता के साथ तटस्थ किया और अग्रणी मराठा परिवारों के हृदय में अपने प्रति विश्वास की भावना जगाई । इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर मुसलमानों को भी आपस में भिड़ाना आवश्यक था, जबकि बड़ी ताकत के सामने शिवाजी को अक्सर झुकना ही पड़ा । फिर भी उनकी यह अभिलाषा उनके मन पर सदैव, सर्वोपरि बनी रही कि विदेशियों के विरुद्ध एकता स्थापित हो । यह सच है कि शिवाजी को अक्सर असफलता का सामना करना पड़ता, और अन्त में उनकी कोशिशें बेकार भी गईं, पर उनकी हार एक गौरवपूर्ण पराजय थी, क्योंकि उन्होंने जो ढाचा बनाया था उसमें इतनी शक्ति पैदा हो गई थी कि वह और भी अधिक शक्तिशाली धक्को का सामना कर सके ।

कई सदियों के संघर्ष से तैयार की गई भूमि पर बीज के आरोपण की इस गाथा को समाप्त करने से पहले एक अन्य विशेषता पर भी गौर कर लेना चाहिए । शिवाजी के व्यक्तित्व में एक ऐसी चुम्बकीय शक्ति थी जो बहुत कम जन-नेताओं में होती है, और यह शक्ति न तो किसी डाकू या 'दस्यु' में होती है और न किसी कट्टरपंथी में । धर्म, रंग, वर्ग और जाति, सभी प्रकार के भेदों को भुलाकर देश के आशावान, आकांक्षी लोग उनके व्यक्तित्व के सांचे में ढले जा रहे थे । शिवाजी के सलाहकार भी उन्हीं लोगों के बीच से आए थे जो समाज में ताकतवर समझे जाते थे । उनके स्पर्श से घटिया से घटिया लोगों को भी महसूस होने लगता था जैसे उन्हें अग्नि में तपाकर शुद्ध किया

जा रहा हो। मावले तथा हेतकरी लोगों ने उनका साथ केवल लूट के माल के लिया नही दिया था, और जब वे दूर-दूर के अभियानों में शिवाजी का साथ नही दें पाए तब वह जल और थल दोनों प्रकार की सेवाओं में मुसलमानों को बिना किसी हिचक के नियुक्त करने लगे। तानाजी मालुसरे और उनके भाई सूर्याजी, बाजी फासलकर तथा नेताजी पालकर, प्रभुजबाजी देशपांडे और बालाजी आवाजी, ब्राह्मण मोरोपन्त, आबाजी सोनदेव, रघुनाथ नारायण, अन्नाजी दत्तो, जनार्दन पन्त हनमंते, मराठा प्रतापराव गूजर तथा हम्बरराव मोहिते, सन्ताजी घोरपड़े तथा धनाजी जाधव, पार्सोजी भोसले के पूर्वज, उदाजी पवार तथा खण्डेराव दाभाड़े—ये सभी उनकी सेना में उनके नीचे काम करते रहे, किसी ने भी गैर वफादारी नही दिखाई। यही गुण होता है एक प्रतिभावान व्यक्तित्व का। शिवाजी को जब दिल्ली में कैद कर लिया गया तब भी वे अपने-अपने पदो पर बने रहे, और जब वे जेल से निकल कर आए तब उन्होने ही शक्ति को पुनः स्थापित करने में उनकी मदद की। बाद में उनकी मृत्यु के बाद जब उनके बेटे सम्भाजी का व्यवहार बिगड़ गया और उन्हें मार डाला गया, तथा शाहू को बन्दी बनाकर रायगढ़ ले जाया गया, तब उन्ही लोगों और उनके उत्तराधिकारियो ने मुगलो के आक्रमणों को झेला। यह सही है कि ये दक्षिण की और भाग जाने को बाध्य हुए, पर थोड़े ही दिनो बाद जब वे एक नई ताकत लेकर पुनः वापस आए तो औरंगजेब के छक्के छूट गए और उसकी सभी महत्वाकांक्षी योजनाएं धरी की धरी रह गई।

अन्त में, शिवाजी का आत्मानुशासन उतना ही महान था जितना एक सैनिक के रूप में उनका साहस और उनकी नियन्त्रण-शक्ति। उस समय की उग्रता तथा ढीलेपन के सामने उनका यह गुण एक विरोधाभास-सा जान पडता है। धन की आवश्यकता तथा युद्ध के बोझ से बाध्य होकर उनकी सेनाओं ने कुछ ज्यादतियां अवश्य की, पर गायो, महिलाओं और किसानों को कभी कोई क्षति नही पहुंचाई गई। शूरता से पूर्ण जिस उदात्त भावना के साथ वे महिलाओं से पेश आते थे, उस भावना की दुश्मनों के यहा कोई परिकल्पना भी नही। यदि वे लड़ाई के दौरान पकड़ी भी जाती तो उन्हें इज्जत के साथ उनके पति के पास वापस भेज दिया जाता। शिवाजी जीती हुई भूमि का कोई जागीरदार नियुक्त कर ने के खतरे से भी सावधान थे और इस प्रकार के प्रस्ताव आते भी तो वे उससे अपना मुंह मोड़ लेते। उनके उत्तराधिकारियो ने यह सावधानी नही वरती जिससे उस साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया तेज हो गई जिसकी नीव उन्होंने इतनी बुद्धिमानी के साथ रखी थी।

आत्म-नकारात्मक क्रोध की सीमा तक धार्मिक जोश, साहसिकता की भावना जो इस विश्वास से पैदा हुई थी कि कोई मनुष्येतर शक्ति उनकी रक्षा कर रही है, प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व की स्वाभाविक आकर्षण-शक्ति जिससे लोग एकता

के सूत्र में जुड़ते और विजय प्राप्त करते, समय की सही आवश्यकता की सही पहचान, अपने उद्देश्य के प्रति एक अविचल विश्वास जो विपरीत परिस्थिति में भी अटूट रहता, एक प्रकार की तत्परता तथा साधन-सम्पन्नता जो भारत अथवा यूरोप के इतिहास में कहीं भी दुर्लभ है, सच्ची देशभक्ति जो अपने समय से कहीं आगे थी तथा दयालुता की भावना से मिली-जुली न्याय-परायणता—ये ही उनके बल के स्रोत थे जिससे प्रेरित होकर शिवाजी ने शक्ति के वे बीज बोए जिससे उनके उत्तराधिकारियों को उनकी योजना के अनुसार कार्य करने में सफलता मिली और वे अपने कार्य से एक ऐसा इतिहास लिख पाए जिसका स्थान भारतीय इतिहास में काफी महत्वपूर्ण है। मराठा साम्राज्य के इस संस्थापक के महान चरित्र के इस प्रारंभिक चित्रण से हमें वह सूत्र मिलता है जिसके सहारे हम उनके जीवन की भूल-भुलैया को समझ पाने में अधिक समर्थ होंगे और उनके जीवनकाल के महान कार्य-कलापों के प्रति समुचित न्याय करने के योग्य होंगे।

अध्याय ४

बीज का अंकुरण

पिछले अध्याय के संक्षिप्त विवरण से पाठकों को उस महान नेता के चरित्र की प्रमुख विशेषताओं का पता चलता है जिसने मराठा शक्ति के बिखरे तत्वों को एक किया, और पश्चिमी भारत के पर्वतीय गढ़ों की छत्रछाया में एक मराठा राज्य की स्थापना की-एक ऐसा मराठा राज्य जिसकी सम्भावनाएं अपरिमित थी। यह भी स्पष्ट है कि आजादी का जो अभियान शिवाजी ने शुरू किया उसमें उन्हें लोगों का पूर्ण सहयोग मिला, और जो बीज उन्होने बोया था उसका फलना-फूलना भी अच्छी मिट्टी में ही सम्भव था। यह भी स्मरण रखना होगा, कि यदि उस समय के कुछ महान व्यक्तियों ने अपने को एक लम्बे अरसे तक एक कठिन अनुशासन में बांध कर उनके साथ मिलकर का मन किया होता तो शिवाजी की अपनी उच्च प्रतिभा भी कार्य को अच्छी तरह सम्पादित न कर पाती। मराठा इतिहास के भारतीय तथा यूरोपीय, दोनों ही प्रकार के लेखक यह भूल जाते हैं कि शिवाजी ने तन तथा मन से, और एक उच्चतर स्तर पर, लोगों की महत्वाकांक्षाओं को ही व्यक्त किया था, और उनको सफलता भी इसलिए मिली क्योकि उन्होंने जो बीज बोया था उसे समाज के सभी वर्गों के लोगो ने मिलकर सींचा, तथा उन्हें अपना नेता माना। वे बराबरी में बड़े के समान थे, और अपने को ऐसा ही मानते भी रहे। इस अध्याय में संक्षेप में उनके इन्ही सहकर्मियों के बारे में बताया जा रहा है। इनमें सैनिकों और राजनेताओ के साथ-साथ कुछ प्रख्यात आध्यात्मिक गुरु भी हैं। उनके बारे में हमें कोई बहुत अधिक जानकारी तो उपलब्ध नही पर इतिहास के पर्दे पर उनकी महानता की तस्वीर के बिना भी तो उस व्यक्ति के बड़प्पन का पूरा अंदाजा नही होता और उसके जीवन की कहानी पूरी नही होती जिसकी याद को हम आज भी अपनी सबसे अच्छी थाती मानते हैं।

अतीत के इस ऐतिहासिक मानचित्र पर सबसे पहला रंग उभरता है शिवाजी की माता जीजाबाई का। वह महाराष्ट्र के प्राचीन यादव राजाओं की वंशज थीं। उनके पिता अपने समय के सर्वाधिक गरिमामय मराठा जागीरदार थे। शहाजी के साथ बचपन में ही उनके विवाह की रूमानी कहानी सभी जानते हैं। एक बार उनके पिता के मुख से निकल गया कि उनका विवाह तो बस शहाजी से होना चाहिए, और शहाजी के पिता मालोजी ने उनकी शपथ की लाज रखी। उन्होने बीस हजार घोड़ों वाली सेना

के सम्बन्ध जाधवराव के विरोध की भी परवाह न की। जाधवराव ने अपने को देवगिरि
के यादव राजाओं का वंशज बताया तो शहाजी के पूर्वजों के लिए कहा गया कि वे
उदयपुर के राजपूत राजकुमार थे। वह एक उत्तम परिवार में पली थी, और उनके
सम्बन्धी भी बड़े-बड़े घरानों के थे, इसलिए प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उन्होंने अपनी
उदात्तता नहीं खोई। पर उनके पिता के गर्व को चोट पहुंची थी और वह उसे भूल
नहीं पाए थे। बाद में जब अहमदनगर तथा दौलताबाद में शहाजी का प्रभाव बढ़ा
और उनके हाथ में वह जिसको चाहते उसको गद्दी पर बैठा देने की ताकत आ गई
तब जाधवराव से उनकी शत्रुता और बढ़ गई। जाधवराव मुगल आक्रामकों से जा मिले
और शहाजी को बाध्य होकर अहमदनगर के राजाओं का पक्ष छोड़ना पड़ा। अपने
श्वसुर से पीछा छुड़ाने के लिए वह बीजापुर जा बसे और उनकी पत्नी अपने पिता की
बन्दी बन कर रह गईं। इन विषम परिस्थितियों में जीजाबाई को सब कुछ अपने आप
ही करना था, और इन्हीं परिस्थितियों में शिवनेर के गढ़ में शिवाजी का जन्म हुआ।
उनके पिता तथा पति दोनों ने ही उन्हें छोड़ दिया था। उन्हें विदेशी शासन की गुलामी
का अपमान भी सहना पड़ा था। इस भयानक परिस्थिति में उनके बेटे शिवाजी ही
उनके लिए सब कुछ थे। उनका लालन-पालन भी एक तरह से देवताओं की छत्रछाया
में ही हुआ। देवी भवानी में उनका सबसे अधिक विश्वास था। उन्हीं की कृपा से कठिन
परिस्थितियों में भी वह और बेटे शिवाजी जीवित रहे। बाद में शहाजी की अनुमति से
वह उनकी पूना जागीर में जाकर रहने लगीं। उस समय उस जागीर की देखरेख शहाजी
के सबसे विश्वसनीय मंत्री दादोजी कोंडदेव कर रहे थे। शिवाजी के मन पर वहां के
पर्वतीय गढ़ों की गहरी छाप पड़ी। वह उन्हीं को अपना सबसे सुरक्षित घर समझते थे।
ऐसी माता, और इस प्रकार के वातावरण में रहने के कारण, उनके चरित्र में शुरू से ही
एक प्रकार की कड़ाई तथा रुखड़ापन आ गया था। मां के प्रति बेटे के स्नेह की कोई
सीमा नहीं थी। उनके पिता उनके साथ कभी नहीं रहे, पर मां का आश्रय उन्हें सतत्
मिलता रहा। जीवन भर उन्हीं की प्रतिभा उनका मार्ग-दर्शन करती रही और वही
उनकी रक्षक थी। वही उनके श्रम की सराहना करतीं और उन्होंने ही उनके अन्दर वह
साहस भरा जिसके कारण वह कभी विचलित नहीं हुए। उन्हीं से उनके मन में धार्मिक
भावना तथा अपने उद्देश्य के प्रति आस्था पैदा हुई, और वही उन्हें पुराणों से युद्ध तथा
बहादुरी की कहानियां सुनाया करतीं। शहाजी की मृत्यु के बाद जब जीजाबाई ने अपने
प्राणों की आहुति देनी चाही तब शिवाजी के अनुनय-विनय के कारण ही वह उनके साथ
कुछ समय और रहने को राजी हुईं। जब वह विजय पर तब राज्य का कार्य-भार भी
उन्हीं के कंधों पर रहा। जीवन में जब-जब भी संकट की घड़ी आई उन्होंने सबसे पहले
अपनी मां का ही आशीर्वाद मांगा। उन्होंने ही उन्हें कठिन से कठिन कार्य करने के लि[illegible]
उत्प्रेरित किया, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि सदा ईश्वर करेगा। महान शि[illegible]
महानता के पीछे मां की प्रेरणा की हर महानता में जीजाबाई का नाम [illegible]

रखता है। शिवाजी के चरित्र के निर्माण में उन्हीं का हाथ था और वही उनकी शक्ति की मुख्य स्रोत थीं।

जीजाबाई के बाद, शिवाजी के चरित्र-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाले दूसरे व्यक्ति थे दादोजी कोंडदेव जो शिवाजी के साथ उनके अभिभावक के रूप में रहते थे, और उनके पिता की भू-सम्पत्ति की देखरेख भी करते थे। उनका जन्म पूना ज़िले के माल्थन नामक स्थान में हुआ था। उन्होंने शिवाजी को उनकी कच्ची आयु में वही स्नेह दिया, जो उनके पिता, यदि वह उनके पास होते, तो देते और उनकी देखभाल भी उसी प्रकार की। इससे शिवाजी को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता मिली। वह अत्यन्त ही सावधान स्वभाव के व्यक्ति थे, इसलिए उन्हें शिवाजी का पहाड़ियों में स्वतंत्रतापूर्वक घूमना-फिरना अच्छा नहीं लगता था। फिर भी उनके प्रति उनके प्यार में कभी कोई कमी नहीं आई, और अन्ततः उन्होंने माना कि शिवाजी को साधारण लोगों के मापदण्ड से तोलना उचित नहीं। उन्हें यह भी विश्वास हो गया कि शिवाजी के मन में जो विचार उठते हैं वे यदि सफल न हों तो भी गरिमामय हैं। शिवाजी की बेलगाम आज़ादी पर अंकुश लगाना और उन्हें उस गुरु के कड़े अनुशासन में रखना आवश्यक था जो उनका पालन-पोषण कर रहे थे। उन्होंने उन्हें युद्ध और शान्ति की वे सभी कलाएं सिखाईं जो उनके लिए आवश्यक थीं। उन्होंने सेनाओं को संगठित करने और उन्हें नियंत्रण तथा अनुशासन में रखने की महत्वपूर्ण विधि भी सिखाई। दादोजी का हाथ नागरिक प्रशासन में काफी महत्वपूर्ण था। उनके जागीर के कार्यभार संभालने से पहले अकाल तथा सीमा पर मुग़लों तथा बीजापुर के राजाओं के बीच निरन्तर लड़ाइयों के कारण उसकी हालत बिगड़ी हुई थी; यहां तक कि लोग पूना को भी छोड़कर चले गए थे। भेड़ियों, और भेड़ियों से भी ज़्यादा खतरनाक डाकुओं के कारण खेती का काम असम्भव हो गया था। पर दादोजी ने कुछ ही वर्षों में लोगों को पुरस्कार देकर भेड़ियों को खत्म करवा दिया, और काफी कड़ाई के साथ डाकुओं का भी दमन किया। लोगों को लम्बी अवधि के लिए पट्टे पर जमीन दी और उन्हें उसे जोतने को राज़ी कराया। दस साल भी नहीं बीते होंगे और उन्होंने जागीर का हुलिया बदल कर दिखा दिया। इससे जागीरदार की कुछ और अधिक पैदल सेना तथा नागरिक अधिकारी नियुक्त करने की क्षमता बढ़ी, उसने गढ़ों की मरम्मत कराई और उनके लिए रक्षक सिपाही नियुक्त किए। इस प्रकार पूना और सूपा तथा इन्दापुर और बारामती में शान्ति कायम हुई और उनका सुनियोजित नियंत्रण संभव हुआ। भूमि पर फलों के पेड़ लहलहाने लगे जो शिवपुर में आज भी इस ब्राह्मण मंत्री की बुद्धिमानी के प्रतीक स्वरूप फल-फूल रहे हैं। उनका अनुशासन इतना कड़ा था कि जब एक बार वह अपने मालिक के बाग से एक पका आम तोड़ लेने का लोभ संवरण न कर पाए तब उन्होंने अपने मातहतों को हुक्म दिया कि दण्डस्वरूप उनका दाहिना हाथ काट दिया जाए। उनके समर्थकों ने जब बड़ा अनुनय विनय किया तब कहीं जाकर वह माने और उनका हाथ बच गया। पर उसके बाद उन्होंने फिर हमेशा

दाहिनी आस्तीन के कपड़े नहीं पहने, ताकि उन्हें अपनी गलती की याद आती रहे। बाद में शहाजी के हुक्म पर वे आस्तीन वाले कपड़े पहनने लगे। निस्सन्देह दादोजी की वही परम्परावादी इच्छा थी कि शिवाजी अपने पिता तथा पितामह के समान एक पक्षधर नेता हों। पर अन्त तक भी वह विचारों की उन ऊंचाइयों को न समझ पाए जिन पर शिवाजी का मन रमा हुआ था—और वह था पक्षधर नेताओं को एक कर देश को मुसलमानों की गुलामी से मुक्त करना। बाद में जब उन्हें महसूस हो गया कि शिवाजी के अन्दर अपने रूप को सच कर दिखाने की क्षमता है तब उन्होंने अपनी मृत्यु से पहले उन्हें अपने अनुशासन से मुक्त कर, आशीर्वाद दिया। शिवाजी की लगान प्रणाली तथा नागरिक शासन व्यवस्था गुरु दादोजी के बताए मार्ग पर ही चली, और इसमें अतिशयोक्ति नहीं कि यदि उन्होंने उनकी बीहड़पन उच्छृंखलता को बाध कर अनुशासित न किया होता तो उनको जो सफलता मिली वह उतनी पक्की अथवा स्थायी न हो पाती।

दादोजी की मृत्यु ठीक उस समय हुई जब शिवाजी तोरण को हथिया कर और रायगढ़ का किला बनवा कर साहस और खतरे का एक नया जीवन शुरू कर चुके थे। अपने दस वर्षों के कार्य-काल में दादोजी ने ऐसे अनेक ब्राह्मणों को प्रशिक्षित किया था जो उनके न रहने पर उनका कार्य-भार संभाल सकें और शिवाजी के अब और भी अधिक विस्तृत कार्यक्षेत्र में उनका मार्ग-दर्शन कर सकें। आबाजी सोनदेव, रघुनाथ बल्लाल, शामराज पन्त, मोरोपन्त के पिता पिंगले तथा नारोपन्त हनमन्ते आदि न जाने कितने लोगों को उन्होंने नागरिक अधिकारी तथा सेनाध्यक्षों के रूप में प्रशिक्षित किया। इन सभी लोगों ने शिवाजी की साहसिक भावना की कद्र की और इसी भावना से उत्प्रेरित अन्य लोगों मोरोपन्त पिंगले, अण्णाजी दत्तो, नीरजी पण्डित, रावजी सोमनाथ, दत्ताजी गोपीनाथ, रघुनाथ पन्त तथा गंगाजी मंगाजी—से मिलकर शिवाजी की महत्वाकांक्षी योजनाओं को सफल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मुक्ति के नए आन्दोलन में इन सभी के बुद्धि-कौशल का प्रतिनिधित्व था, और सफलता के लिए जिन फौलादी हाथों और कठोर दिलों की आवश्यकता होती है, वे थे शिवाजी के बचपन के चुने हुए साथी, कुछ मावली नेता। इतिहास में जिन तीन का उल्लेख मुख्य रूप से है वे हैं—येसाजी कंक, तानाजी मालुसरे तथा बाजी फासलकर—और ये सभी पहाड़ी गढ़ों के कठिन अनुशासन में पले-बढ़े थे। फिरंगोजी नरसाले, साबाजी कावजी, मनकोजी दहातोण्डे, गोमाजी नाईक, नेताजी पालकर, सूर्याजी मालुसरे, हीरोजी फरजंद, देवजी गाढवे तथा अन्य कई उसी मावली वंश के हैं। शीघ्र ही उनके साथ बड़े-बड़े दूसरे नेता भी शामिल हो गए और वे थे महाद के मुरार बाजी प्रभु, हिरडस मावल के बाजी प्रभु और हब्शी क्षेत्रों के बालाजी आवजी चिटनिस। दो बाजी नेताओं को भी, जो दुश्मनों की सेवा में थे, शिवाजी ने उनकी बहादुरी के कारण अपने साथ ले लिया था। उनके कुछ ऐसा आकर्षण था कि उनके शत्रु भी, और वे भी जिनको वह लड़ाई के

पराजित करते थे, उनके विश्वासपात्र तथा समर्थक हो जाते थे। प्रारम्भिक वर्षों में न जाने कितने ब्राह्मण, प्रभु तथा मावली नेता शिवाजी की शक्ति के मुख्य स्रोत बने हुए थे। बीजापुर तथा अहमदनगर की सेवाओं में लगे मराठा परिवारों के प्रतिनिधि आन्दोलन में सहायक होना तो दूर, उनके कट्टर विरोधी हो गए थे। ऐसे ही एक बाजी मोहिते को, जो शिवाजी के सम्बन्धी भी थे, सूपा में अचानक घेर कर उन्हें दूर कर्नाटक की ओर भेज देना पड़ा था।

बाजी घोरपड़े अथवा मुधोल इतने गिरे हुए व्यक्ति थे कि बीजापुर के राजा के कहने पर उन्होंने शहाजी को फंसाकर बन्दी बना लिया था और शिवाजी को इसका कड़ा बदला लेना पड़ा था। जावली के मोरे लोगों ने बीजापुर के एक ब्राह्मण दूत को अपनी भूमि पर छिपने की अनुमति दे दी, ताकि अवसर आने पर वह शिवाजी को मार डाले, और फिर मोर को खत्म करने के लिए उन्हें एक ऐसी चाल चलनी पड़ी जो किसी अन्य परिस्थिति में क्षम्य न होती। इसी प्रकार वाड़ी के सावन्त, कोंकण के दलवी तथा शृंगारपुर के शिर्के, तथा सुर्वे भी एक बाधा बने रहे। नए आन्दोलन में शामिल होने से उन्होंने इन्कार कर दिया और इसलिए उनका या तो दमन करना पड़ा अथवा उन्हें सावन्तों की तरह नई ताकतों की गुलामी में लगा दिया गया। फल्टन के निम्बालकर, म्हसवड़ के माने तथा झुंजाराव घोड़के, जो सभी बीजापुर की सेवा में थे, उस राष्ट्रीय आन्दोलन के खिलाफ लड़ते रहे जिसे शिवाजी चला रहे थे, और अपनी पुरानी वफादारी निभाते रहे। अत: स्पष्ट है कि नए आन्दोलन की पूरी शक्ति लगभग समूचे मध्यम वर्ग पर ही निर्भर थी, और पुराने मराठा परिवारो का सहारा या तो बिलकुल नही था, अथवा नही के बराबर था। किन्तु हा, जब प्रारम्भिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त हो चुकी, तब शिवाजी की सेवा में बड़े-बड़े परिवारों से नई पीढ़ी के लोग जरूर आए और उनके विश्वासपात्र बने। प्रतापराव गूजर, हम्बीरराव मोहिते, शिदोजी निम्बालकर, संभाजी मोरे, सूर्यराव काकडे, सन्ताजी घोरपड़े, धनाजी जाधव, खण्डेराव दाभाड़े, पर्सोजी तथा रूपाजी भोसले तथा नेमाजी शिंदे आदि कुछ ऐसे नाम हैं जो यद्यपि शिवाजी के जीवनकाल में बाद में आए, किन्तु वे शीघ्र ही नए आन्दोलन के प्रति मध्य तथा निम्नवर्गीय लोगों का ही नही बल्कि देश के सर्वोत्तम तथा सर्वोच्च परिवारों के लोगों का भी योगदान प्राप्त करने में सफल हुए। यह सचमुच ही एक महत्वपूर्ण, उल्लेखनीय बात है क्योंकि इससे स्पष्ट झलकता है कि मुक्ति के इस आन्दोलन की शुरुआत की जनता तथा जन-नेताओं ने, और अन्य लोग उसकी सफलता में विश्वास हो जाने पर ही शामिल हुए।

मुसलमान भी आन्दोलन के असर से अछूते न रहे। शिवाजी के प्रधान एडमिरल दरया सारंग एक मुसलमान थे और उन्होंने मुगलों के सिद्दी नौसेनाध्यक्षों से लोहा लिया।

पठान नेता इब्राहीम खां भी मुसलमान थे। बीजापुर तथा गोलकुंडा की सेनाओं से हटा दिए गए मुसलमान सिपाही तथा सैनिक टुकड़ियां भी शिवाजी की सेना में शामिल हो गईं और उनका एक अलग दल बना दिया गया।

एक ओर ब्राह्मण तथा प्रभु जाति के लोगों, तथा दूसरी ओर मावली तथा मराठा तत्वों के सापेक्षिक महत्व को अच्छी तरह समझने के लिए ग्रांट डफ के इतिहास का उल्लेख आवश्यक है जिसमें उसने बीस ब्राह्मण नेता तथा चार प्रभु नेताओं के विरोधियों के रूप में मावली तथा मराठा नेताओं की चर्चा की है। बीजापुर तथा मुगल राजाओं की सेवा में लगे चौदह पक्षधर मराठा नेताओं को मावलियों तथा अन्य मराठों के विरोधियों के रूप में उल्लिखित किया गया है। संकट के उन दिनों में पण्डितराव तथा न्यायाधीशों को छोड़कर अन्य सभी ब्राह्मण मंत्रियों को नागरिक तथा सैनिक दोनों पदों पर कार्य करना पड़ा था और उन्होंने उन दोनों क्षेत्रों में अपने दायित्व का निर्वाह समान निपुणता के साथ किया। देश के बखर इतिहासकारों ने कहा है कि उनकी संख्या ग्रांट डफ द्वारा दिए गए आकड़ों से दूनी रही होगी, किन्तु इससे उनके समानुपातिक सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं आता। चिटनिस के बखर में कहा गया है कि प्रभु नेताओं की संख्या लगभग पचास थी जब कि मावली तथा मराठा नेता केवल चालीस थे। किन्तु इसी पुस्तक में बाद में ब्राह्मणों की संख्या पैंतालीस तथा मावलियों तथा मराठों की संख्या पचहत्तर बताई गई है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि समाज के सभी वर्गों से लगभग एक सौ व्यक्तियों ने महत्वपूर्ण पद प्राप्त किए थे और उन्होंने रायगढ़ में स्थापित हिन्दू राज्यवंश को अपना पूर्ण समर्थन दिया था, गोकि इससे उन्हें मुस्लिम शक्तियों का विरोध झेलना पड़ा था। यहां हम बस उन थोड़े से व्यक्तियों की चर्चा करेंगे जिनकी महानता के गीत राष्ट्र के चारणों ने भी गाए हैं और इतिहास में जिनका अमिट उल्लेख है। ये सभी प्रतीक हैं उन दूसरे लोगों के, जो अपनी-अपनी जगह, और अपनी-अपनी सीमा में लगन तथा बहादुरी के करतब करते रहे और इस प्रकार एक समान उद्देश्य को सफल बनाने में जिन्होंने अपना योग दिया।

ब्राह्मण नेताओं में सबसे पहले नाम आता है दो हनमन्ते नेताओं का, जो पिता और पुत्र थे। नारोपन्त हनमन्ते दादोजी कोंडदेव की भांति शहाजी की सेवा में थे और उनके अधिकार में था कर्नाटक। उनके बेटे रघुनाथ नारायण तथा जनार्दन पन्त अपने पिता के समान ही महान थे। रघुनाथ पन्त ने तंजौर में शहाजी के दूसरे बेटे वेंकोजी के लिए एक नए राज्य की स्थापना की। बाद में जब वेंकोजी से मतभेद पैदा हो गया तब वह जिंजी के किले में जाकर रहने लगे तथा उन्होंने वेलोर तथा मैसूर में कई उच्च पदों पर कार्य किया। उन्हीं के अनुरोध पर शिवाजी ने कर्नाटक तथा द्रविड़ क्षेत्र में भी अपना अभियान शुरू किया था। इन स्थानों पर शिवाजी के अधिकार के महत्व का पता

तब चला जब औरंगजेब ने संभाजी को पकड़ लिया और एक-एक कर सभी पहाड़ी गढ़ों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। मराठा नेताओं को दक्षिण की ओर जिंजी में जाकर शरण लेनी पड़ी जहां से वे कुछ वर्षों बाद फिर वापस लौटे और औरंगजेब को उन स्थानों को छोड़ देने के लिए बाध्य होना पड़ा। मुगलों के साथ बाद की लड़ाई में रघुनाथ पन्त के भाई जनार्दन पन्त ने भी हिस्सा लिया। तो ऐसे थे ये हनुमन्ते, लौह शक्ति के प्रतीक तथा हर कार्य में महान बुद्धि के परिचायक।

मोरोपन्त पिंगले को शिवाजी की शक्ति का मुख्य स्तम्भ कहा जा सकता है। वह अपनी विजय पताका को बागलन तथा उत्तरी कोंकण तक ले गए। उनकी इस सेवा के पुरस्कार स्वरूप उन्हें पेशवा की उपाधि से विभूषित किया गया। उन्होंने बड़े-बड़े किले बनवाए और शिवाजी की सेनाओं को संगठित किया। उनके पिता कर्नाटक में शहाजी की सेवा में थे, पर जब वह युवा थे तभी, 1653 में वह शिवाजी की सेना में भरती हो गए। सिद्दियों तथा सावन्तों के साथ कोकण के युद्धों में पहले पेशवा शामराजपन्त पराजित हो चुके थे। अतः हारी हुई भूमि को पुनः अधिकार में कर लेने को मोरोपन्त को भेजा गया और वह अपने उद्देश्य में सफल हुए। वह उस समय की सभी लड़ाइयों में लगभग हमेशा लड़ते रहे और शिवाजी के बाद बस थोड़े ही दिन और जीवित रहे। उनकी पेशवा की उपाधि उनके परिवार में आगे भी चलती रही। बाद में 1714 में शाहू ने यह उपाधि बालाजी विश्वनाथ को दे दी। वह शिवाजी के मुख्य असैनिक सलाहकार थे, और उनके प्रधान सेनाध्यक्ष भी। राष्ट्रीय हित के लिए इतनी निपुणता तथा इतनी लगन के साथ कार्य करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति उस समय नहीं था।

आबाजी सोनदेव की शिक्षा उसी पाठशाला में हुई थी जिसमें हनमन्ते तथा पिंगले की पढ़ाई हुई। जागीर की सीमा के बाहर जाने वाले वह पहले व्यक्ति थे, और कल्याण पर भी पहला आक्रमण उन्हीं का था, और गोकि यह सच है कि कल्याण को मुगलों ने कई बार अपने अधिकार में ले लिया, फिर भी वह आबाजी सोनदेव की ही चौकी बना रहा और आबाजी कोंकण के सूबेदार बने रहे। मोरोपन्त की भांति उन्होंने कई गढ़ भी बनवाए। शिवाजी को दिल्ली जाना पड़ा तो वह जीजाबाई के सलाहकार के रूप में राज्य में आबाजी तथा मोरोपन्त को छोड़ गए। राज्याभिषेक के अवसर पर 'मजूमदार' की उपाधि से विभूषित होने वाले वह पहले व्यक्ति थे और उनके बेटे को भी 'अमात्य' नियुक्त किया गया।

सिद्दियों के साथ लड़ाई में राघो बल्लाल अत्रे ने काफी नाम कमाया। चन्द्रराव मोरे के दमन में भी उन्हीं की भूमिका मुख्य रही। शिवाजी द्वारा नियुक्त सबसे पहले पठान सिपाहियों का अध्यक्ष बनने का गौरव भी उन्हीं को मिला।

शिवाजी के समय में 'सुरनीस' तथा 'पंतसचिव' का पद प्राप्त करने वाले दूसरे ब्राह्मण नेता थे अन्नाजी दत्तो। पन्हाला तथा रंगाना की विजय तथा कोंकण के युद्धों में उनकी भूमिका काफी सक्रिय रही। कर्नाटक अभियान का नेतृत्व भी उन्होंने ही किया, साथ ही हुबली को भी लूटा। दक्षिण कोंकण भी उन्हीं के शासनाधिकार में था, जबकि बागलन तथा उत्तरी कोंकण के शासक थे आवाजी सोनदेव तथा मोरोपन्त। शिवाजी के दिल्ली जाने के बाद मराठा क्षेत्रों का शासन-प्रबन्ध मोरोपन्त तथा सोनदेव के साथ अन्नाजी दत्तो भी देख रहे थे।

शिवाजी के घरेलू मामलों के मंत्री और वाकनीस थे दत्ताजी गोपीनाथ। अफजलखां के दरबार में शिवाजी के दूत का महत्वपूर्ण कार्य भी उन्होंने ही निभाया था। बाद में मराठा इतिहास में ख्याति प्राप्त करने वाले सखाराम बापू बोकील उन्हीं-के वंशज थे।

बरार की विजयों में नेतृत्व था रावजी सोमनाथ के हाथ में। उन्होंने कोंकण की लड़ाइयों में भी काम किया था। उनके पिता सोमनाथ 'दबीर' तथा विदेशी मंत्री थे। इन पदों पर उनके उत्तराधिकारी हुए जनार्दन पन्त हनमन्ते।

नीरजी रावजी 'न्यायाधीश' थे। उनके पुत्र प्रहलाद गोलकुण्डा में राजदूत थे, और वह राजाराम के समय में 'प्रतिनिधि' हो गए। जिंजी के बचाव में उन्होंने महान संगठन-प्रतिमा का परिचय दिया।

प्रभु जाति के सेनापतियों और सलाहकारों में मुख्य नाम हैं मुरार बाजी, बाजी प्रभु तथा बालाजी आवजी के।

पुरन्दर का किला मुरार बाजी के शासन में था। उन्होंने उस किले को दिलेरखां के हमलों से बड़ी बहादुरी के साथ बचाया, किन्तु उन्ही लड़ाइयों में वह काम भी आए।

बाजी प्रभु पहले शिवाजी के दुश्मन थे, पर फिर एक सच्चे समर्थक बन गए। शिवाजी जब पन्हाला से भागकर रंगाना चले गए तब बाजी प्रभु ने एक तंग दर्रे में अपने एक हजार सिपाहियों के साथ अपना मोर्चा संभाला और बीजापुर के सेनापति से, उसकी भारी सेना के बावजूद, एक-एक इंच भूमि के लिए लड़े, और शिवाजी के रंगाना लौटने तक असहनीय घावों के कारण दम तोड़ दिया। उनके साहस और बलिदान की तुलना कुछ लोग यूनान के इतिहास में थर्मापोली की सुरक्षा में लड़ने वाले वहां के वीर नायकों से करते हैं।

बालाजी आवजी हब्शी राजाओं की सेवा में लगे एक उच्च कुल के वंशज थे। बालाजी विश्वनाथ की तरह उन्हें भी अपने प्राणों की रक्षा के लिए अपनी भूमि छोड़नी पड़ी थी। 1948 में शिवाजी उनके चातुर्य के कारण उनकी ओर आकर्षित हुए और उन्हें आजीवन अपना मुख्य मंत्री बनाए रहे। बाद के दो शासन कालों में उनके पुत्र तथा पौत्र ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और उनके एक वंशज ने तो 'चिटनिस बखर' नामक एक महान ऐतिहासिक पुस्तक की रचना भी की।

मावली सेनाध्यक्षों में येसाजी कंक मावली पद सेना के अध्यक्ष थे। शुरू-शुरू की लड़ाइयों में उन्होंने महत्वपूर्ण काम किया। वह तथा तानाजी शिवाजी के मुख्य साथी के रूप में उनके साथ जीवन भर रहे। जब अफजलखां की मृत्यु हुई तब वे दोनों उनके साथ ही थे। इसी प्रकार जब शाईस्ताखा पर हमला किया गया तब भी वे उनके साथ थे और दिल्ली की यात्रा पर भी उन्होने उनका साथ दिया।

चारणों ने अपनी रचनाओं में तानाजी मालुसरे तथा उनके भाई सूर्याजी का नाम अमर किया है क्योंकि उन्होंने सिंहगढ़ को तोड़ने में असीम साहस का परिचय दिया था, वहीं तानाजी की मृत्यु हुई थी और सूर्याजी को शत्रु की सेना से बदला लेने का अवसर मिला था।

बाजी फासलकर देशमुख सावन्तों के साथ कोंकण की लड़ाइयों में मारे गए थे। फिरंगोजी नरसले चाकण के गढ़ के सेनाध्यक्ष थे और उन्होंने इसे 1648 में शिवाजी को दे दिया था। वह उन थोड़े से लोगों में थे जो पहले तो शत्रु थे पर बाद में मित्र हो गए थे। मुगलों ने चाकण को जीत लिया और उन्हें अच्छी नौकरी का लालच दिखाया पर उन्होंने उनके प्रस्ताव को ठुकरा दिया और शिवाजी की सेना में भर्ती हो गए।

संभाजी कावजी ने रघुनाथ पन्त के साथ मिलकर जावली के हमले में काम किया और उसी समय चन्द्रराव मोरे मारा गया। येसाजी कंक मावली पैदल सेना के अध्यक्ष थे और घुड़सवार सेना की अध्यक्षता नेताजी पालकर कर रहे थे। वह सेना में दबंग व्यक्ति थे और शिवाजी के हमलों को उन्होंने ही अहमदनगर, जलना तथा औरंगाबाद तक बढ़ाया था। वह जहां कहीं भी खतरा होता वहीं पहुंच जाते।

घुड़सवार सेना के दूसरे अध्यक्ष थे प्रतापराव गूजर। उन्होंने बगलान में मुगल सेनाओं तथा पन्हाला में बीजापुर की सेनाओं को हरा कर शिवाजी के मन में विश्वास की भावना पैदा की। शिवाजी तथा मुगल बादशाह के बीच दो साल की शान्ति की अवधि में वह औरंगाबाद में मराठा सेनाओं के अध्यक्ष थे। किन्तु बाद में बीजापुर की सेनाओं को वह पूरी तरह पराजित नहीं कर पाए और शिवाजी ने उनकी कटु आलोचना की।

फलतः जब दूसरी बार लड़ाई हुई तब उन्हें पूरी विजय प्राप्त हुई हालांकि उन्हें तानाजी मालुसरे, बाजी प्रभु, बाजी फासलकर, तथा सूर्यराव काकड़े की तरह अपनी जान गंवानी पड़ी।

सेनापतियों की युवा पीढ़ी में खाण्डेराव दाभाड़े, परसोजी भोंसले, सन्ताजी घोरपड़े तथा धनाजी जाधव के नाम शिवाजी की मृत्यु के बाद मुख्य रूप से लिए जाने लगे। इनमें से पहले दो व्यक्तियों ने गुजरात तथा वरार में मराठा शक्ति की नींव रखी तथा दूसरे दो ने स्वतन्त्रता की लड़ाई को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया।

तो ये थे वे लोग जिन्होंने अपनी बहादुरी तथा अपने परामर्श से मराठा राज्य की स्थापना में शिवाजी की मदद की। इनमें से कोई एक भी ऐसा नहीं था जो खतरे के समय अपने कर्तव्य से च्युत होता, एक ने भी अपने मालिक के साथ न तो धोखा किया और न दुश्मनों से जा मिले। अनेक ऐसे भी थे जिन्होंने जीत में भी अपने जीवन का उत्सर्ग किया और इस सन्तोष के साथ गए कि उन्होंने देश के प्रति अपने कर्तव्य का पालन किया। ये कुछ थोड़े से तथ्य हैं जो उनके प्रशंसनीय कार्यों के परिचायक हैं और उस प्रेरणा के भी द्योतक हैं जो शिवाजी ने उन्हें दी और जिसके माध्यम से उनको अपनी उद्देश्य पूर्ति के प्रयास में सहायता मिली। इन प्रयासों तथा बलिदानों के फलस्वरूप 1674 के राज्याभिषेक में जिस राज्य की स्थापना की गई उसमें पूना, सूपा, इन्दापुर तथा बारामती के उत्तराधिकार में मिले जागीर ही नहीं थे, बल्कि मावलों का पूरा प्रदेश, सतारा जिले के पूरे पश्चिमी भाग, कोल्हापुर के भी सभी पश्चिमी क्षेत्र, दक्षिणी तथा पश्चिमी कोंकण और उसके सभी समुद्री किले तथा पहाड़ी गढ़, बागलन, कर्नाटक, वेलोर तथा मैसूर आदि सभी क्षेत्र थे। किन्तु शिवाजी की मृत्यु के बाद ये सभी उनके अधिकारियों के हाथ से निकलकर मुगलों के अधिकार में आ गए। स्थायी महत्व की बात यह नहीं है कि मराठों को भूमि तथा दौलत की प्राप्ति हुई, उससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उनके नेताओं के अन्दर एकता तथा आत्मविश्वास की ऐसी भावना पैदा हुई जिसके बल पर मुसलमान शक्तियों को रोक सकने में वे अपने को अधिक समर्थ महसूस करने लगे। 1685 से 1707 के बाईस वर्षों में औरंगजेब की दक्कन विजय की अवधि में देश को मुक्ति भी मिली मराठों को इसी भावना के कारण। यदि देश के नेताओं को शिवाजी की इन सफल लड़ाइयों के दौरान सैनिक तथा असैनिक क्षेत्रों में समुचित अनुशासन की शिक्षा तथा सही प्रशिक्षण न मिला होता तो परिणाम इतने सुखद न होते। इन सौ नेताओं की ऐसी शिक्षा-दीक्षा हुई थी कि वे देशवासियों के बीच नए साहस तथा नई आशा की लहर उत्पन्न कर सकें, और उससे उनमें एक ऐसा, कभी कम न होने वाला, आत्मविश्वास पैदा हो सके जिसके बल पर वे बाहरी हमलों को झेल सकें और उस सैलाब का मुंह बन्द कर देने में अन्ततः सफल हो सकें जो बड़ी तेजी के साथ

बढ़ता चला आ रहा था। यही कारण है जो हमने यह जरूरी समझा कि ऐसे महान जन-नेताओं के विषय में एक अलग अध्याय हो जिनके महान कार्यों की याद आगे की पीढ़ियों को भी उनका अनुसरण करने को प्रेरित करती रहे। शिवाजी के अपने व्यक्तित्व की महानता से भी सामान्य सैनिक तथा सामान्य जन प्रेरणा लेते रहे, और यही उनके जीवन का उद्देश्य भी था। उनकी धरती और दौलत तो उनके बेटे के कमज़ोर हाथों से जाती रही, पर वह भावना जो उन्होंने पैदा की थी, और वे लोग जो उनकी प्रेरणा से जागे थे, कठिन परिस्थितियों में भी अडिग बने रहे, तथा परिस्थिति की विषमता के साथ ही साथ उनकी लड़ने की शक्ति भी बढ़ती रही। जयसिंह तथा दिलेरखा के नेतृत्व में आयी सेना के सामने उन्होंने झुक जाना और दिल्ली जाना ही अधिक नीति-सम्मत समझा। उनके उत्तराधिकारियोंको मुगल सेना की पूरी ताकत का सामना करना पड़ा, जिसका नेतृत्व स्वयं मुगल बादशाह कर रहे थे। उन्हें दक्षिण की ओर भाग जाना पड़ा पर उन्होंने पराजय नही स्वीकार की। शीघ्र ही वे विजय प्राप्त कर घर भी लौटे और उन्होंने जो खोया था उसे सूद समेत वापस प्राप्त कर लिया।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के कार्य में लगे हुए शिवाजी के इन सहकर्मियों का यह वृतान्त अधूरा ही रह जाएगा यदि संक्षेप में हम उन धार्मिक नेताओं का भी उल्लेख न करें जो तेजी से उभर रहे थे और जिन्होंने सैनिक तथा असैनिक सेनाध्यक्षों के मुख्य परामर्शदाता का कार्य भी किया। चिटनिस के बखर में ऐसे न जाने कितने उपदेशकों का उल्लेख आता है। उनमें मुख्य है चिचवाड़ के मोरया देव, निगड़ी के रंगनाथ स्वामी, बीदर के विट्ठलराव, शिवटा के वामन जोशी, दहितन के निम्बाजी बाबा, धामनगाव के बोदले बाबा, बड़गांव के जयराम स्वामी, हैदराबाद के केशव स्वामी, पोलादपुर के परमानन्द बाबा, संगमेश्वर के अचलपुरी तथा पाड़गाव के मानी बाबा। इनमें से सबसे अधिक मान्य थे देहू के तुकाराम बाबा तथा स्वामी रामदास। रामदास शिवाजी के आध्यात्मिक गुरु थे। लौकिक मामलों में भी वही उनके मुख्य सलाहकार थे। इन धार्मिक गुरुओं के प्रभाव का पूरा विवरण एक अलग अध्याय में होगा। यहां यह कहना पर्याप्त होगा कि रामदास तथा तुकाराम के प्रभाव में राष्ट्रीय भावना को एक प्रकार की उच्च आध्यात्मिक शक्ति मिली, जो कदाचित उनके बिना सम्भव न हो पाती। रामदास के सुझाव पर ही लोगों के प्रिय केसरिया रंग को, जिसे उपासक तथा एकान्तवासी भक्त भी धारण करते थे, राष्ट्र के चिंह्न के रूप में स्वीकार किया गया और यही रंग प्रतीक भी हुआ आजादी की उस लड़ाई का जिसे हम व्यक्तिगत प्रतिष्ठा अथवा मान के लिए नही, मनुष्य एवं देव की सेवा के उच्च उद्देश्य के लिए लड़ रहे थे। अभिवादन की पुरानी शैलिया भी, जिनसे विदेशी सत्ता के प्रति समर्पण का भाव प्रकट होता था, समाप्त कर दी गईं और उनके स्थान पर रामदेव के प्रिय आराध्य देव का नाम लिया जाने लगा।

प्रभाव के अन्तर्गत शिवाजी के वरिष्ठ अधिकारियों के मुसलमानी पदनाम बदल

कर संस्कृत नाम रख दिए गए। इसी प्रकार पत्राचार के रूपों में भी सुधार किया गया। गुरु के प्रति कृतज्ञता के रूप में शिवाजी ने रामदास को उपहार में अपना राज्य ही दे डाला। किन्तु उन्होंने उसे फिर उन्हें वापस दे दिया और कहा कि वह उसे जनता की सेवा में एक न्यास के रूप में चलाएं। बाद में शिवाजी ने उन्हें गुरु दक्षिणा के रूप में कुछ भूमि देनी चाही तो उन्होंने कहा कि वह भूमि उन लोगों को दी जाए जो अब भी विदेशी सत्ता के प्रभाव झेल रहे हैं—और निस्सन्देह उनका संकेत इस तथ्य की ओर था कि स्वतन्त्रता का कार्य अभी पूरा नहीं हुआ है।

मराठा शक्ति के उदय की प्रक्रिया में जिन लोगों के नाम मुख्य रूप से सामने आते हैं उनके बारे में दिए गए इस संक्षिप्त वृतांत से उस समय की दशा का सही सही पता चलता है। उसकी इतनी सही तस्वीर शिवाजी के बारे में लिखी गई इतिहास की किताबों में भी न होगी। यही वह पृष्ठभूमि थी जिसमें शिवाजी का महान् व्यक्तित्व केन्द्रित था, और जो उनका शक्ति-तथा बुद्धि का स्रोत थी। राष्ट्रीय जागरण के जिस वातावरण का निर्माण उस समय हुआ था, उसको पूरी तरह समझे बिना शिवाजी के जीवन की हर-कहानी अधूरी है। किसी भी राष्ट्र की सच्ची ताकत की अभिव्यक्ति इस बात से नहीं होती कि वह अपने को बचा सकने में कितना समर्थ है, बल्कि इस बात से होती है कि उसकी अगली पीढ़ियों में राष्ट्रीय सुरक्षा के कार्य को और अधिक मजबूती तथा सफलता के साथ सम्पादित करने की कितनी क्षमता है। शिवाजी के समकालीन इन दोनों मापदण्डों पर यह सिद्ध करते हुए खरे उतरते हैं कि बहादुरी तथा बुद्धिमत्ता, इन दोनों दृष्टियों से राष्ट्रीय निर्माण के कार्य में वे अपने नेता के योग्य हैं।

अध्याय 5

वृक्ष फूलने लगे

कहा जा सकता है कि शिवाजी का सार्वजनिक जीवन 1646 में तोरणा पर अधिकार के साथ शुरू होता है, जब उनकी आयु केवल नौ वर्ष की थी, और 1680 में अचानक समाप्त हो जाती है उनके निरन्तर व्यस्त एवं अधूरे जीवन की कहानी। उनके जीवन के इन 34 वर्षों को चार हिस्सों में बांटा जा सकता है, और उन सभी का अध्ययन अलग अलग होना चाहिए, क्योंकि जैसे जैसे उनकी उम्र तथा अनुभव बढ़ते गए, उनके कार्यों का दायरा भी बढ़ता गया, और धीरे-धीरे उन कार्यों को परिचालित करने वाले सिद्धांत भी बदलते गए। इस तथ्य को नजर अंदाज कर देने से कि शिवाजी का जीवन एक क्रमिक विकास का जीवन था, काफी भ्रांतियां पैदा हुई हैं। उनके कार्य करने के नियम भी प्रारम्भिक तथा बाद की, दोनों अवस्थाओं में आवश्यकता तथा सफलता के अनुसार बदलते रहे हैं। उनके शुरू-शुरू के उच्छृंखल जीवनकाल के बारे में भी काफी पक्षपातपूर्ण धारणा है और उसे सदा सामाजिक नैतिकता की कठिन कसौटी पर आंकने की कोशिश होती रही है। हमने, और यूरोप के इतिहासकारों ने भी, उन्हें कभी उस मापदण्ड पर नहीं मापा जो उस समय के दूसरे राजाओं पर लागू होता है। दक्कन के मुस्लिम शासकों द्वारा मराठा देश को वस्तुतः कभी जीता नहीं जा सका। मैदानी भागों पर तो अधिकार कर लिया गया था, पर पश्चिम के पहाड़ी हिस्से कभी-कभी ही हाथ में आ पाते थे। गढ़ों की सेनाबन्दी नहीं हो पाती थी, न ही उनकी मरम्मत आदि ही हो पाती थी। किलेदार भी सामान्यतया स्थानीय प्रभाव वाले ही हुआ करते थे, जो अपनी मर्जी की करते थे, एक दूसरे से जूझते-उलझते रहते थे, जब चाहते युद्ध छेड़ देते और दूसरों की रियासत हड़प लेते। लगता ही नहीं था कि कोई केन्द्रीय सत्ता भी है। निजामशाही राज्य के टूट जाने के बाद तो यह अराजकता और भी बढ़ गई। उसके हिस्से दिल्ली दरबार तथा बीजापुर के राजाओं के बीच बंट गए, और सीमावर्ती मराठा देश इन दोनों शक्तियों से लगातार लड़ते-जूझते रहे। ऐसी स्थिति के दुखदायी परिणामों की केवल कल्पना ही हो सकती है। अपने कार्यकारी जीवनकाल के पहले छः वर्षों में शिवाजी पड़ोस के पहाड़ी गढ़ों के अनुशासनहीन शासकों तथा पूना के निकट के मावलों को ठीक करने में लगे रहे। औरंगाबाद के मुगल सेनाध्यक्षों की बहुत दूर स्थित सत्ता तथा बीजापुर के राजाओं के अधिकार को चुनौती देने का ख्याल भी उनके मन में नहीं था। फिर पूना तथा सूपा में उन्हें अपनी जागीरों की

रक्षा की चिंता भी थी। उनकी रक्षा भी तभी हो सकती थी जब उनके चारों ओर फैले उपेक्षित पहाड़ी गढ़ों की कम से कम खर्च में, और कम से कम आदमियों द्वारा, मरम्मत आदि होती रहे। आत्मरक्षा की इस सबसे पहली आवश्यकता के अतिरिक्त उन प्रारम्भिक दिनों में भी शिवाजी के मन में एक और बात भी सर्वोपरि होती जा रही थी। वह थी पड़ोस की मराठा शक्तियों के विघटित तत्वों को एक करने की कोशिश। उनके पहले के अनुभव से सिद्ध हो चुका था कि इसके बिना सुरक्षा अथवा बचाव सम्भव नहीं था।

शुरू-शुरू का यह काम जब बिना किसी रक्तपात के पूरा हो गया, और उसमें सभी गुटों की सहमति प्राप्त हो गई, तब शिवाजी को बीजापुर के राजाओं से युद्ध करना पड़ा। उन राजाओं ने पहले तो धोखा देकर उनके पिता को बन्दी बनाया और फिर स्वयं शिवाजी को भी चकित करने और पकड़ने के लिए दूत भेजे। बाद में उन्हें कुचल देने के लिए अनेक हमले भी किए और उन हमलों का नेतृत्व कर रहे थे बीजापुर के सर्वश्रेष्ठ सेनापति। बीजापुर के साथ इस युद्ध के साथ ही शिवाजी के जीवन का दूसरा काल शुरू होता है। यह काल लगभग दस वर्षों का है। इस अवधि में शिवाजी अपने दुश्मनों को अपनी शर्तें स्वीकार कराने में सफल होते हैं, और उनका अधिकार और भी बड़े क्षेत्रों तक फैल जाता है। पर इस सब के पीछे *उनका सर्वोच्च लक्ष्य वही, एक ही था, अर्थात आत्मरक्षा तथा आन्दोलन* का राष्ट्रीय पैमाने पर प्रसार। जीवन के इस दूसरे काल की सफलताओं के दौरान उनकी मुठभेड़ दक्कन पर चढ़ाई कर रहे मुगल आक्रमकों से भी हुई, और वहीं से शुरू होता है उनके जीवन का तीसरा काल जिसमें उनका मुख्य उद्देश्य होता है मुगलों से संघर्ष। यह काल 1662 से शुरू होकर 1672 तक फैला हुआ है और इसी अवधि में मुगल सम्राट को मराठों को औपचारिक रूप से एक बड़ी शक्ति के रूप में स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ता है। चौथा काल शुरू होता है 1674 में राज्याभिषेक के साथ, जो शिवाजी के जीवन के अन्तकाल तक चलता है। उनके जीवन तथा चरित्र का सबसे अच्छा अध्ययन उनके कार्यकारी जीवन के इसी अन्तिम काल से हो सकता है क्योंकि इसी काल में उनकी सारी आकांक्षाएं तथा आशाएं पूर्ण होती हैं। शिवाजी के शासन के सिद्धान्तों का मूल्याकन भी इसी काल में उनके द्वारा स्थापित शासन व्यवस्था के आधार पर किया जाना चाहिए। उन्होंने अपनी नीति के मुख्य उद्देश्य को कभी नजर अन्दाज नहीं किया। उनका पहला लक्ष्य था पड़ोसियों से अपनी रक्षा करना, जो बाद में चलकर मुसलमानों से देश की रक्षा करना हो गया। उन्होंने पहले चाहा था मराठा शक्ति के बिखरे तत्वों को एक करना पर धीरे-धीरे एकता के प्रति उनका दृष्टिकोण और अधिक व्यापक होता गया। मुगल सम्राटों तथा बीजापुर के राजाओं ने अपने को जब तक अपनी ही सीमा के अन्तर्गत रखा तब तक उनसे उनका कोई झगड़ा नहीं था। किन्तु जब वे कर्नाटक तथा उत्तर भारत को पार

कर पश्चिमी महाराष्ट्र की ओर लोगों को अपने अधीन करने की दृष्टि से बढ़े तब शिवाजी को सचेत होना पड़ा। तेलंगाना में उस समय गोलकुण्डा के राजाओं का शासन था। शिवाजी ने उन्हें तथा बीजापुर के राजाओं को भी काफी मदद दी ताकि वे मुगलों के हमलों का सामना कर पाने में सफल हो सकें। किन्तु हां, वे दिल्ली दरबार के अधीन एक जागीरदार के रूप में रहने को इस शर्त पर तैयार थे कि उनके अपने देश को कोई हानि नही पहुंचाई जाएगी। इसी उद्देश्य को लेकर वह दिल्ली दरबार में हाजिर भी हुए थे और यद्यपि उन्हें धोखा देकर बन्द कर दिया गया फिर भी वह युद्ध विराम के लिए तैयार थे। उनकी शर्त सिर्फ यह थी कि दिल्ली का सम्राट उन्हें अपने राज्य के एक उच्च प्रधान के रूप में स्वीकार कर ले। उन्होंने कभी भी इस विचार को कोई महत्व नही दिया कि सारे भारत के हिन्दुओं को मिलाकर एक अलग राज्य की स्थापना की जाए और मुसलमान शासन को समाप्त कर दिया जाए। यह भावना तो बाद में बाजीराव बल्लाल के मन में उपजी थी। जब पन्त प्रतिनिधि के साथ उनका मतभेद हुआ तो उन्होंने शाहू महाराजा को यह सलाह दी कि वे शाखाओं को काटने में अपनी शक्ति का क्षय न कर अपनी पूरी ताकत के साथ जड़ समेत उस पेड़ को हिलाए जिसकी शक्ति दिल्ली में केन्द्रित थी। शिवाजी का विचार यह अवश्य था कि दक्कन में हिन्दू शक्ति का एक केन्द्र स्थापित किया जाए और उसमें बीजापुर तथा गोलकुण्डा के राजाओं का भी सहयोग हो ताकि मुगल ताकत को ताप्ती के उस पार उत्तर की ओर ही रोके रखा जाए। उस समय की पूरी स्थिति का मूल मंत्र बस यही है। आत्म सुरक्षा तथा पश्चिमी भारत में राष्ट्रीय हिन्दू शक्ति का निर्माण, जिसमें बीजापुर तथा गोलकुण्डा की मुसलमान रियासतों का भी सहयोग हो ताकि उत्तर के हमलों को नाकामयाब किया जा सके और देश के लोगों की रक्षा हो सके—शिवाजी की महत्वाकांक्षा की यही सीमा थी और यही उद्देश्य था। उनके जीवनकाल के इन चार स्पष्ट आयामों की उलझी हुई कहानी का अध्ययन हम इसी बात को ध्यान में रखकर और अच्छी तरह कर सकते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पहले काल की शुरुआत होती है तोरण पर अधिकार के साथ, जिसके किलेदार ने उसे समर्पित कर दिया था। फिर उसके बाद रायग की किलेबन्दी की गई और उसे मुख्य निवास बनाया गया। इन बातों को कोई खास महत्वपूर्ण नही समझना चाहिए, क्योंकि बीजापुर दरबार को यह समझाया गया कि ये किले सार्वजनिक हितों तथा परिवार की जागीर की सुरक्षा के लिए अधिकृत किए गए थे। बाजी मोहिते को भी सूपा के शासन से मुक्त कर दिया गया था, पर यह भी कोई खास महत्वपूर्ण बात नहीं थी, क्योंकि वह जागीर की सेवा में थे। उधर पूर्व में पूना का मार्ग चाकण के गढ़ से होकर था, इसलिए शिवाजी ने ोजी नरसाले को बाध्य किया कि वह उसे उन्हें सौंप दे पर गढ़ का शासन

प्रबन्ध फिरंगोजी के हाथ में ही रहने दिया गया, और वह हमेशा शिवाजी के प्रति
निष्ठावान रहे। इसी प्रकार सिंहगढ़ के मुसलमान शासक को भी बाध्य किया
गया कि वह उसे सौंप दे। इस प्रकार मावलों को तो नियंत्रित कर लिया गया और
बाकी बचे नाविल, जो उस प्रदेश के अत्यन्त ही हठीले निवासी थे। पर उन्हें भी,
उन्ही के अपने सेनापतियों के अधीन सेना में भरती कर लिया गया। यह सब
कुछ बिना किसी हिंसा अथवा रक्तपात के हुआ। अब कुल जागीर में पूना, सूपा,
बारामती तथा इन्दापुर तो शामिल ही थे, पुरन्दर का गढ़ भी था जिससे होकर
पुरानी सड़क पूना से बारामती की ओर जाती थी। इसी, तथा कुछ अन्य कारणों से
पुरन्दर पर अधिकार करना आवश्यक था। बीजापुर का पुराना शासक एक ब्राह्मण था
और दादोजी कोडदेव से उसके अच्छे सम्बन्ध थे, लेकिन अपने चाल ढाल से वह बड़ा
उपद्रवी था। उसकी पत्नी ने उसके कुछ कार्यों पर आपत्ति उठाई तो उसे तोप के मुह पर
रखकर उडा दिया गया। उसकी मृत्यु के बाद उसके बेटों में झगडा हो गया और शिवाजी
से निवेदन किया गया कि वह उसे निपटाएं। शिवाजी ने उन तीन भाइयो को कैद कर
किले को ले लिया। शिवाजी के इस कार्य को ग्राट डफ ने धोखेबाजो कहा है। पर फिर
भी उसने माना है कि इन भाइयो को बहुत सारी इनामी भूमि दी गई और शिवाजी
की खिदमत में उन्होने थोडी प्रतिष्ठा भी प्राप्त की। देशी इतिहास लेखकों के अनुसार
सेना में ऐसे लोगों का एक बड़ा गुट था जो तीन भाइयो के झगडो के कारण खतरे
की आशंका कर रहे थे। उन्होने शिवाजी को राय दी कि वह काम को खुद देखें। जो
समझौता हुआ उसमें दो भाइयो की पूर्ण सहमति थी। अत स्पष्ट है कि शिवाजी ने गढ़
को अपने अधिकार में कर लेने के लिए जो कार्य किया, वह सेना की अनुमति से हुआ,
और रणनीति में उसका बड़ा महत्व था।

शिवाजी की यह सामान्य नीति थी कि किलों पर उनका अधिकार बिना किसी
हिंसा अथवा रक्तपात के हो। इससे इस बात का भी संकेत मिलता है कि पड़ोसी देशों
में शिवाजी के प्रति कितना विश्वास था। हिरडम मावल, सह्याद्रि के पहाड़ी
गढो, उत्तर में कल्याण तक, दक्षिण में प्रतापगढ़ तथा लोहगढ़ तथा रोहिड़ा जिस तरह
अपने अधिपत्य में लिया गया, उससे सिद्ध होता है कि शिवाजी के जीवनकाल की यह
प्रथम विजय यात्रा सकुशल सम्पन्न होती है। कल्याण पर अधिकार हो जाने के बाद
बीजापुर के अधिकारियों ने शिवाजी के पिता के माध्यम से उन पर दबाव डलवाने की
चेष्टा की। उनकी जागीर, कर्नाटक से उन्हें बुलवाया गया और उन्हें धोखे से पकड़ कर
जेल में ठूंस दिया गया। शिवाजी ने जब देखा कि पिता के जीवन को खतरा है तब उन्होंने
अपने हमले बन्द कर दिए। किन्तु अब पिता को बचाने के लिए शिवाजी ने एक दूसरी
रणनीति अपनाई। वह मुगल सम्राट शाहजहां से जा मिले क्योंकि यही एक प्रभावी
उपाय था शहाजी को मुक्त कराने का। दिल्ली के सम्राट के प्रति शिवाजी की इसी सेवा

के सन्दर्भ में चौथ तथा सरदेशमुखी की मांग का भी उल्लेख किया जाता है। कहा जाता है कि शाहजहां ने वादा किया था कि शिवाजी जब व्यक्तिगत रूप से दिल्ली आएंगे तब इन मांगों पर विचार किया जाएगा। किन्तु यह बात शाहजहां के जीवन में नहीं होनी थी। यह घटित हुई बाद में 1652 में और इसी के साथ शिवाजी के जीवनकाल की पहली मंजिल समाप्त हुई।

1657 में जब शहाजी मुक्त हो गए, तब शिवाजी पर कुछ वर्षों से लगी पाबन्दियां जैसे समाप्त हो गई और उनकी गतिविधियां और जोर पकड़ने लगी। बीजापुर के राजाओं ने भी मुगल सेनाध्यक्षों से शान्ति की सन्धि कर ली थी और इसलिए वे अपनी सेनाओं को शिवाजी के विरुद्ध लगाने को स्वतन्त्र थे। इस काल की सबसे मुख्य विशेषता यही है कि शिवाजी को बीजापुर की शक्तियों से लोहा लेना पड़ता था। इसी संघर्ष के दौरान शिवाजी की मुलाकात कुछ उन शक्तिशाली मराठा जागीरदारों से भी हुई जो बीजापुर की सेवा में कार्यरत थे। वे थे मुधोल के घोरपड़े, जावली के मोरे, वाड़ी के सावन्त, दक्षिण कोंकण के दलवी, म्हसवड़ के माने, शृंगारपुर के सुर्वे तथा शिर्के, फलटण के निम्बालकर तथा मालवाड़ी के घड़गे। उन दिनों शिवाजी का एक ही लक्ष्य था, इन सभी मराठा शक्तियों को एकता के सूत्र में जोड़ना, जिनकी जागीरें दक्षिण में नीरा से लेकर उत्तर में कृष्णा तक थी, क्योंकि शिवाजी ने अपने नेतृत्व में शेष उन सभी शक्तियों को एक कर लिया था जो उनके पड़ोस में थी। पर उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया गया तथा उनमें से सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति चन्द्रराव मोरे ने अपनी जागीर को एक ब्राह्मण सरदार बाजी शामराज के नेतृत्व में बीजापुर से आई एक टुकड़ी के लिए सुरक्षा स्थल के रूप में इस्तेमाल करने की अनुमति दे दी ताकि वहां से शिवाजी को अचानक घेर कर मार डालना सम्भव हो सके। किन्तु इस षड़यन्त्र का भंडा फोड़ हो गया और बीजापुर के प्रतिनिधियों को ही मुंह की खानी पड़ी। चन्द्रराव मोरे के साथ यह खुली दुश्मनी बहुत दिनों तक नही सही जा सकती थी इसलिए राघो बल्लाल तथा संभाजी कावजी नामक शिवाजी के दो प्रतिनिधियों ने अपने आप यह निश्चय किया कि मोरे राजाओं को दण्डित किया जाए। बदला लिया गया और अत्यन्त तेज तथा पक्का बदला लिया गया, किन्तु उनके इस कार्य की आलोचना किए बिना नहीं रहा जा सकता क्योंकि धोखे के बदले में किया गया यह एक दूसरा खुला तथा योजनाबद्ध धोखा था। मराठा इतिहासकारों ने भी चन्द्रराव की हत्या का समर्थन नहीं दिया और इस पूरी घटना के पीछे सिर्फ एक अच्छी बात यह हुई कि शिवाजी के प्रतिनिधियों ने उसकी हत्या की योजना स्वयं, अपने ही दायित्व पर बनाई थी। यह और बात है कि बाद में उसके परिणाम को शिवाजी ने बिना किसी आशंका के स्वीकार कर लिया। जावली की विजय से दक्षिण में प्रतापगढ़ तक सारे क्षेत्रों को अधीन करना अधिक

सुगम हो गया और पन्हाला, दक्षिण कोंकण तथा वाड़ी के सावन्तों आदि की सभी जागीरें एक-एक कर हाथ में आती चली गईं। सुर्वे तथा दलवियों की जागीरें भी अधिकृत कर ली गईं। सिद्दों की भूमि पर भी हमला किया गया पर उसका कोई खास परिणाम नहीं निकला।

इन सफलताओं के कारण एक संकट भी पैदा हो गया और बीजापुर के अधिकारियों ने एक बड़ा प्रयास करने का संकल्प किया। उन्हें पता चल गया था कि शिवाजी पर पिता का नियंत्रण नहीं रह गया था और इसलिए यदि पिता पर दबाव डाला गया तो शिवाजी मुगल सम्राट से सहायता मांगने को बाध्य होंगे। बाजी शामराज की अध्यक्षता में उनकी पहली सेना को, जिसने शिवाजी को अचानक घेरना चाहा था, पराजित होना पड़ा था। चन्द्रराव मोरे पर उन्हें काफी भरोसा था, कुछ सहारा सावन्तों तथा दलवियों का भी था, पर शिवाजी के सेनापतियों के सामने वे टिक नहीं पाते थे। इसलिए इस बार उन्होंने अपने सबसे योग्य पठान सेनाध्यक्ष अफजलखां के नेतृत्व में एक भारी सेना भेजने का निश्चय किया। अफजलखां कर्नाटक की लड़ाइयों में हिस्सा ले चुका था और सकारण अथवा अकारण उस पर सन्देह किया जाता था कि उसने शहाजी के दुश्मनों की मदद की थी। शिवाजी के बड़े भाई की असामयिक मृत्यु भी उसी की वजह से हुई थी। बीजापुर के खुले दरबार में उसने बड़े आडम्बरी भाव से यह भी कहा था कि पर्वतों के उस चूहे शिवाजी को वह जिन्दा अथवा मुर्दा पकड़कर दिखा देगा। बीजापुर से वाई जाते समय रास्ते में पड़े तुलजापुर तथा पंढरपुर के मन्दिरों को भी उसने तहस-नहस किया और मूर्तियां तोड़ दीं। इसलिए उसकी चढ़ाई पूरी तरह एक धर्म-युद्ध की चढ़ाई थी। इससे दोनों पक्षों के बीच अत्यन्त निम्न स्तर की दुर्भावना पैदा हुई। इसमें सन्देह नहीं कि इस लड़ाई के परिणाम पर निर्भर मुद्दे अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। यह जीतने अथवा हारने वाले पक्ष के लिए जीवन अथवा मरण का प्रश्न था। शिवाजी तथा उनके सलाहकारों ने परिस्थिति की गम्भीरता को भांप लिया था। आक्रमण को असफल कर देने के लिए उन्होंने अपने को पूरी तरह तैयार किया, पर अपनी योजना को अन्तिम रूप देने के पहले शिवाजी ने अपनी आराध्य देवी भवानी को स्मरण किया। उन्होंने चिटनिस से कहा कि वह देवी के प्रभाव में आ जाएं तब उनके मुख से जो शब्द निकलें उनको लिख लिया जाए। इस प्रकार उनकी इस अचेतन उत्तेजनावस्था में उनके मुख से जो कुछ भी व्यक्त हुआ उसे अंकित कर लिया गया।

इस प्रकार अपनी रक्षा के इस दैवी आश्वासन, मां के आशीर्वाद तथा अपनी सेना की सेवा-साधना के बल पर शिवाजी ने काफी सोच समझ कर एक चुने हुए स्थान पर अपने शत्रु से मिलने का निर्णय किया। जहां एक ओर शिवाजी इतनी सतर्कता सावधानी के साथ कार्य कर रहे थे, वहीं दूसरी तरफ अफजलखां इस नशे में चूर

उसके पास एक बहुत बड़ी सेना है जिसके सामने लड़ाई के मैदान में शिवाजी टिक नहीं पाएगा। इसलिए उसका पूरा ध्यान खास तौर पर सिर्फ इस ओर था कि शिवाजी को कैसे उनके किले से निकालकर कैद किया जाए, विजय की खुशी में बीजापुर ले आया जाए, और लम्बी लड़ाई के खतरे से भी बचा जा सके। शिवाजी की सेनाओं ने अपने को घने जंगलों तथा कृष्णा और कोयना की घाटियों में जमा लिया, ताकि वे दुश्मन की नजर से बची रहें। पर उधर अफजलखां की सेनाएं वाई से महाबलेश्वर तक फैल गईं और अगल बगल दोनों तरफ से हमलों के लिए खुल-सी गईं। स्पष्टतः दोनों का प्रयास यही था कि किसी तरह दुश्मन के नेता को पकड़ लिया जाए क्योंकि प्राच्य युद्धों की यही प्रथा थी कि नेता के पकड़ लिए जाने पर लड़ाई में हार जीत का फैसला भी हो जाता था। शिवाजी के राजदूत अफजलखां के पास गए और कहा कि वह आत्मसमर्पण के लिए तैयार हैं। फिर अफजलखां ने सच्चाई का पता लगाने के लिए अपना एक ब्राह्मण दूत भेजा। पर उसे देशभक्ति तथा धार्मिक भावना के बल से उकसाकर अपनी ओर कर लिया गया। उसके बाद फिर यह निश्चय किया गया कि शिवाजी और अफजलखां एक दूसरे से अकेले मिलें और बातचीत करें और उनके बीच कोई न हो। इस साक्षात्कार में जो भी हुआ उसका वर्णन तरह-तरह से किया गया है। मुस्लिम इतिहासकारों ने, जिनका अनुसरण ग्रांट डफ ने भी किया, लिखा है कि पहले शिवाजी ने अपने घातक 'बाघ नख' तथा भवानी तलवार से अफजलखां पर हमला कर विश्वासघात किया। पर मराठा इतिहास लेखकों ने, जिनमें सभासद तथा चिटनिस भी शामिल हैं, ने लिखा है कि पहले अफजलखां ने अपने बाएं हाथ से शिवाजी की गर्दन पकड़ी, उनको अपनी तरफ खींचा, और अपनी बाईं भुजा के नीचे दबोचा। इस प्रकार उसके कपटी होने की बात के प्रकट हो जाने पर ही शिवाजी ने उसके ऊपर घातक प्रहार किया। ऐसे मौकों पर विश्वासघात करना उन दिनों एक आम बात थी, और कहा जा सकता है कि शिवाजी और अफजलखां दोनों ही इस खतरे के लिए तैयार थे। शिवाजी के मन में उससे बदला लेने के लिए कुछ विशेष कारण थे। उसने उनके भाई को मारा था और तुलजापुर तथा पंढरपुर के मन्दिरों को नष्ट किया था। वह यह भी जानते थे कि दुश्मन का सामना लड़ाई के मैदान में करने में वह असमर्थ थे। पिछले बारह वर्षों में उन्होंने जो भी योजनाएं बनाई थीं, अथवा सफलताएं प्राप्त की थीं, वह सारी की सारी इसी युद्ध के परिणाम पर आश्रित थीं। इसीलिए छल बल से काम लेने की जरूरत उन्हें शत्रु से ज्यादा थी। इन दोनों के व्यक्तिगत चरित्र पर भी जरा गौर कर लें। एक गर्वीला तथा उतावला था। दूसरा सदा आत्मनियंत्रित तथा सावधान था। अफजलखां की मृत्यु के बाद शिवाजी ने मुसलमानों की सेना पर जो अचानक हमला कर देने का प्रबन्ध कर रखा था उससे दुश्मनों में काफी भगदड़ पैदा हो गई। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि शिवाजी अफजलखां से मुलाकात के परिणाम को प्राप्त करने की जल्दी में थे और उधर अफजलखां की सेना

इस अचानक हमले के लिए बिलकुल तैयार न थी। इन बातों के कारण ग्रांट डफ के विचारों को निस्सन्देह काफी प्रामाणिक कहा जा सकता है, और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि जहां दो दल एक दूसरे की नीयत पर शक करते हैं वहां आपस में एक दूसरे की निष्कपट भावना को भी गलत समझा जाता है। एक दूसरे को नुकसान पहुंचाने की इच्छा दोनों के मन में बराबर रही होगी, गोकि हो सकता है कि उनमें से एक स्थिति से फायदा उठाने को उतना तैयार न रहा हो जितना दूसरा। बहरहाल अफजलखां के पतन से दक्षिण में पन्हाला से लेकर कृष्णा तट के सारे प्रदेश शिवाजी के हाथ में आ गए। फिर बीजापुर के राजाओं ने एक दूसरी सेना भेजी, पर वह भी हार गई और अपनी जीत में शिवाजी की सेनाएं बीजापुर के द्वार तक पहुंच गईं। उधर उनके सेनापतियों ने राजापुर तथा दाभोल को भी हथिया लिया। फिर बीजापुर से एक तीसरी सेना आई, और जब शिवाजी अपने साथियों के साथ किले में आराम कर रहे थे तभी उसने पन्हाला पर अधिकार कर लिया। पर छल करके शिवाजी यहां से भी निकल भागे और रंगणा चले गए, और बीजापुर की सेना उनका पीछा ही करती रही। इस लड़ाई को इतिहासकारों ने मराठा इतिहास का थर्मापोली कहा है जिसकी चौकसी कर रहे थे बाजी प्रभु तथा एक हजार मावली, जो नौ से अधिक घंटे लड़ते रहे और उनके तीन चौथाई सिपाही काम आए। बहादुर सेनापति बाजी प्रभु भी अपनी चौकी की खबरदारी में ही मरे, पर तब तक शिवाजी के सुरक्षित रंगणा पहुंच जाने की खबर उन्हें तोपों के इशारों से मिल चुकी थी। फिर 1661-62 में स्वयं बीजापुर के राजा की अध्यक्षता में एक सैनिक दल और आया, पर उसका भी कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, और लड़ाई एक साल से ज्यादा चलती रही। उसी समय पहले-पहले शिवाजी ने अपना समुद्री बेड़ा भी संभाला और जंजीरा को छोड़कर कोंकण के सभी समुद्री तटों के मालिक बन बैठे। 1662 तक इन लड़ाइयों के कारण बीजापुर सरकार के साधन-स्रोत लगभग चुक गए थे, इसलिए शहाजी के माध्यम से शान्ति की सन्धि एक बार फिर हुई जिसके अनुसार शिवाजी के प्रभाव में आया हुआ सारा क्षेत्र उनके पास ही रहने दिया गया। इस प्रथम काल की समाप्ति तक उनके अधिकार में चाकण से नीरा तक, जिसमें उनकी अपनी भी जागीर थी, और पुरन्दर से घाटमाथा तक सह्याद्रि का पूरा हिस्सा आ गया। दूसरे काल के अन्त तक उनके अधिकार में थे कल्याण से गोआ तक पूरा कोंकण और साथ का घाटमाथा का पूरा तटवर्ती क्षेत्र-भीमा से वारना नदी तक, उत्तर से दक्षिण तक का लगभग एक सौ आठ मील का पूरा इलाका, और पूर्व में भी घाटों का लगभग सौ मील का लम्बा क्षेत्र। दिल्ली के सम्राट के साथ शिवाजी की लड़ाइयों के तीसरे काल में बीजापुर के राजाओं ने उनके साथ अपनी शान्ति सन्धि तोड़ दी। शिवाजी के मुख्य सेनाध्यक्ष प्रतापराव गूजर ने बीजापुर के इस हमले को पहले तो नाकाम कर दिया, पर फिर उन्होंने दुश्मन को वापस लौट जाने की अनुमति दे दी। सेनाध्यक्ष की यह उदारता शिवाजी को अच्छी नहीं लगी और उन्होंने उसकी

भर्त्सना की। प्रतापराव को बुरा लगा और बीजापुर का आक्रमण दूसरी बार जब फिर हुआ तो उसने काफी रक्तपात कर शत्रु को हराया और उसका पीछा करते हुए अपना बहुमूल्य जीवन भी दे दिया। बाद में जब मुगलों ने बीजापुर को घेरा तब वहां के राजा ने शिवाजी की मदद मांगी, और शिवाजी ने भी पिछले घावों को भूल कर मुगलों पर पीछे तथा अगल-बगल, तीन ओर से हमला किया और उन्हें खदेड़ कर उनके क्षेत्र में वापस भेज दिया, और बीजापुर का घेरा टूट गया। शिवाजी की इस उदारता-पूर्ण सहायता से बीजापुर को जैसे बीस साल की जिन्दगी और मिल गई। इन घटनाओं के लिए सही स्थान है शिवाजी के जीवन के तीसरे काल की कहानी में, पर यहां इनके उल्लेख से बीजापुर के साथ शिवाजी के सम्बन्धों पर थोड़ा दृष्टिपात हो जाता है।

अध्याय 6

और अब फल

तीसरा काल 1662 से शुरू होता है। उस समय तक शिवाजी की पूरी कोशिश यही रही कि दक्कन पर अधिकार कर रहे मुगलों के साथ मुठभेड़ न हो। वैसे भी, 1657 में जुन्नर के हमले को छोड़कर, इन दो दलों में कोई वैसी खुली शत्रुता कभी नहीं रही। उधर शाहजहां के समय में शिवाजी ने आत्मसमर्पण का प्रस्ताव किया भी था। इसका कारण शायद यह था कि वह अपने पिता की मुक्ति चाहते थे और अपने कुछ दावों को उससे मनवाना चाहते थे। और जब शाहजहां के दरबार में जाकर शिवाजी ने उससे स्वयं अनुरोध किया तो उनके दावे मानने को वह तैयार भी हो गया। बीजापुर के घेरे को समाप्त कर औरंगजेब को जब दिल्ली सिंहासन के लिए भाइयों से युद्ध करने अचानक दिल्ली जाना पड़ा तब वह इस आशय की एक आज्ञा छोड़ गया कि कोंकण पर शिवाजी के दावे को स्वीकार कर लिया जाए, शिवाजी उसे कुछ चुने हुए घुड़सवार सैनिक दें और नर्मदा के दक्षिण के सुलतानी जिलों में अमन बनाए रखें। पर जब औरंगज़ेब अपने भाइयों को परास्त कर दिल्ली की गद्दी का एकमात्र हकदार हो गया तब शिवाजी के साथ हुए उसके समझौते टूट गए और 1661 में मुगल सेना ने कल्याण पर अधिकार कर लिया। वह शिवाजी द्वारा अधिकृत सबसे उत्तर का इलाका था। 1662 में बीजापुर के साथ शान्ति हो जाने तक शिवाजी मुगल सेना के इस हमले को रोक न पाए। उसके बाद सेनापति नेताजी पालकर की अध्यक्षता में एक सेना औरंगाबाद गई और पेशवा मोरोपन्त ने जुन्नर के उत्तर के गढ़ों को हथिया लिया। ये गढ़ उस समय खास मराठा देश में मुगलों की सबसे अग्रगामी चौकियों के रूप में थे। इस प्रकार दोनों ओर से काफी तेजी के साथ युद्ध छिड़ गया। मुगल सेनाध्यक्ष शाइस्ताखां ने पूना तक चाकण पर अधिकार कर लिया और पूना को अपना मुख्यालय बनाया। फिर पूना में ही शाइस्ताखां पर रात में एक हमला हुआ। पूना से भाग कर सिंहगढ़ जाते हुए शिवाजी का पीछा करने के लिए मुगल घुड़सवार छूटे, पर नेताजी पालकर ने उन्हें हरा दिया। ये घटनाएं 1663 में घटीं। फिर 1664 में शिवाजी का पहला प्रसिद्ध अभियान एक अनजाने देश के रास्ते हुआ। उन दिनों सूरत विदेश-व्यापार का एक बड़ा बाजार था। मराठा सेनाओं ने सूरत से मक्का जाने वाला तीर्थयात्रियों का एक जहाज पकड़ लिया। 1665 में गोआ के दक्षिण में एक समृद्ध बन्दरगाह को भी लूटा। इस प्रकार कनारा के उत्तर

में शिवाजी का अधिकार कायम हुआ। रात के हमले में हुई पूना की पराजय से शाइस्ताखा अभी तक उबर नही पाया था। इसलिए उसे बुला लिया गया और 1665 में प्रसिद्ध राजा जयसिंह तथा दिलेरखा के नेतृत्व में शिवाजी की शक्ति को तोड़ने के लिए एक दूसरी सेना भेजी गई, जो मराठा देश में बिना किसी विरोध के घुस गई और उसने पुरन्दर को घेर लिया। किले के बचाव को महाड़ के एक प्रभु सेनापति मुरार बाजी देशपाण्डे थे। पर इस असमान युद्ध में वह मारे गए। फिर शिवाजी को यह लगा कि अधिक नीतिसम्मत बात यह होगी कि वह उस समय के सर्वप्रधान हिन्दू राजा जयसिंह के सामने आत्मसमर्पण कर अपने लक्ष्य की प्राप्ति शान्ति के माध्यम से करने का प्रयास करें। उनके इस निश्चय का पर्याप्त कारण न तो देशी गाथाकारो की रचनाओ में मिलता है और न ग्राट डफ में। शिवाजी का यह निश्चय कोई निराशा की घड़ी में अचानक लिया गया निश्चय नही था। कहा जाता है कि शिवाजी ने उस समय देवी भवानी से मार्गदर्शन की प्रार्थना की थी और देवी ने कहा था कि वह आत्मसमपर्ण कर दें, क्योंकि जयसिंह भी देवताओं के प्रिय थे और इसलिए सफलता युद्ध से नहीं प्राप्त की जा सकती थी। पर यहा एक क्षण के लिए भी यह नही समझ लेना चाहिए कि शिवाजी जयसिंह से बराबरी के स्तर पर युद्ध करने में असमर्थ थे। वह अफजलखा तथा शाइस्ताखा को कितनी आसानी से हरा चुके थे और बाद में जब औरंगजेब अपनी पूरी सेना के साथ दक्कन पर आ धमका था तब मराठा सेनापतियों ने बिना नेता के ही युद्ध को जारी रखने में सफलता प्राप्त कर ली थी। अपने तीस साल के लम्बे कार्यकाल में शिवाजी ऐसे एक भी युद्ध में हारे नही जिसका नेतृत्व उन्होंने खुद किया, और जब उनके दिन अच्छे नही रहे तब भी उन्होंने खतरो से ही नई प्रेरणा ली और अपने साधनो को फिर से जुटाया। इसलिए जब उन्होंने जयसिंह के सामने हथियार डालने और अपना सब कुछ समर्पित कर देने का निश्चय किया तो उसके पीछे जरूर उनकी कोई गहरी नीति रही होगी जिसे उनके सलाहकारो का समर्थन भी मिला होगा। उन्होंने यह भी जरूर सोचा होगा कि उनके दिल्ली जाने तथा अस्थायी आत्मसमर्पण से उनका कार्यक्षेत्र विस्तृत होगा और साम्राज्य सेवा में कार्य कर रहे बड़े-बड़े राजपूतो से भी परिचय अवश्य होगा। इस आत्म बलिदान के माध्यम से यदि कहीं जयसिंह से दोस्ती हो गई तो वह सहायक होगी बड़े लक्ष्यो की प्राप्ति में। चौथ तथा सरदेशमुखी के दावेदार तो वह हमेशा रहे और गोकि उनके इस दावे को औरंगजेब अथवा शाहजहा किसी ने भी मान्यता नहीं दी थी, फिर भी एक आशा थी कि आत्मसमर्पण से उन्हें अपने दावे को एक बार फिर पेश करने का अवसर प्राप्त होगा। शिवाजी इन्ही तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य विचारों से प्रेरित हुए होंगे आत्मसमर्पण के लिए, न कि किसी भावी घटना के ख्याल से। बहरहाल, यह निश्चित था कि वह इस बार सम्राट से शान्ति के लिए किसी भी कीमत पर तैयार थे। इसीलिए युद्धविराम की व्यवस्था की गई। उन्होने मुगलों के अधिकार में बीस गढ़ कर दिए

उस समय बीजापुर के राजाओं और मुगल सेनाध्यक्षों के बीच जो शान्ति संधि हुई थी उसमें शिवाजी शामिल नहीं थे पर उन दिनों दक्कन में 'वाइसराय' तथा शिवाजी के बीच काफी समझदारी की भावना थी। इस नाते गोलकुण्डा तथा बीजापुर के राजाओं ने चौथ तथा सरदेशमुखी पर शिवाजी का बार-बार दुहराया गया दावा 1669 में स्वीकार कर लिया और उसके मुआवज़े के रूप में उन्हें क्रमशः पांच तथा तीन लाख की राशि देनी स्वीकार कर ली। यह सब दोनों दलों के बीच किसी समझौते के परिणाम स्वरूप ही हुआ होगा, और इस समझौते में दक्कन के मुगल सेनापति भी रहे होंगे। इस प्रकार 1669 तक शिवाजी की स्थिति काफी सुदृढ़ हो गई थी। उनकी जागीरें तथा उनके लगभग सारे पहाड़ी गढ़ उन्हें वापस मिल चुके थे। शाहजहां से भी उन्हें 'मनसब' तथा एक जागीर मिली। दक्कन के मुसलमान राजाओं से भी चौथ तथा सरदेशमुखी पर उनके दावों को मान्यता मिल गई। इन अनुकूल परिस्थितियों में औरंगजेब के साथ युद्ध को अब और अधिक सफलता के साथ आगे बढ़ाने में वह अब अपने को अधिक सक्षम अनुभव करने लगे थे। औरंगजेब ने 1667 के समझौते को तोड़ा था। उसने अपने बेटे दक्कन के वाइसराय से कहा कि वह शिवाजी को जबरन या छल से पकड़ ले। उस समय प्रतापराव गूजर अपनी घुड़सवार सेना के साथ औरंगाबाद में थे। जब उन्हें विश्वासघात की इस योजना का पता चला तब वह वहां से भाग खड़े हुए। इस प्रकार शिवाजी एक बार फिर दिल्ली के सुलतान की पूरी ताकत के शिकंजे में थे। बचाव के लिए जरूरी था कि सिंहगढ पर, जो पिछले पाच वर्षों से साम्राज्य की ओर से राजपूतों के हाथ में था, कब्जा कर लिया जाए। तानाजी मालुसरे ने हमले का नेतृत्व किया और गहरी रात में तीन सौ मावलों के साथ दीवार फाद गए। इस प्रकार वे अन्दर प्रवेश तो कर गए पर उन्हें मार डाला गया। फिर उनके भाई सूर्याजी ने उस काम को बड़ी बहादुरी के साथ पूरा किया और देश के लिए भाई के बलिदान को निरर्थक न जाने दिया। फिर पुरन्दर, माहुली, कर्नाला, लोहगढ और जुन्नर, सभी एक-एक कर हाथ में आते गए। जंजीरा पर भी हमला हुआ पर सिद्दियों की बेहतर समुद्री ताकत के कारण उनके किले बचे रह गए। सूरत को भी एक बार फिर लूटा गया, पर शिवाजी सूरत से लौट रहे थे तभी उनका पीछा करने वाले कुछ मुगल सेनापतियों ने उन्हें पकड़ लिया। मराठों की तुलना में उनकी सेना काफी बड़ी थी, फिर भी लूट की सारी सम्पत्ति को वे सुरक्षित रायगढ़ भेजने में समर्थ हो सके। पीछा करने वालों को हराने की कोशिश में असंख्य जानें अवश्य गईं। प्रतापराव गूजर ने खानदेश में प्रवेश किया, पूरे ज़िले से काफी चन्दा इकट्ठा किया और पूर्व की ओर बरार तक घुस गए। यह पहला अवसर था जब सरदेशमुखी तथा चौथ का कर साम्राज्य के अधीन एक प्रांत को देना पड़ा। 1671 में मोरोपंत पेशवा ने भी अनेक गढ़ अपने हाथ में कर लिए, जिनमें बागलन सल्हेर भी शामिल था। इन्हीं गढ़ों को अगले साल मुगल सेनाओं ने ले लिया।

मराठों ने घेरेबन्दी का सामना बड़ी बहादुरी के साथ किया। मुगलों के साथ घमासान लड़ाई में मोरोपंत पेशवा तथा प्रतापराव उन्हें पराजित करने में सफल हुए। 1673 में पन्हाला फिर ले लिया गया। शिवाजी के सेनापति अण्णाजी दत्तो ने हुबली को भी काफी लूटा। नौसेना की एक टुकड़ी कारवार भी भेजी गई और उस तरफ के सभी तटवर्ती ज़िले अधिकृत कर लिए गए। गोलकुण्डा के राजा की तरह बदनूर के राजा को भी करदाता बना लिया गया। फिर एक सेना बीजापुर से आई जिसे प्रतापराव गूजर ने भारी नुकसान पहुंचा कर परास्त कर दिया। 1674 में एक हमला और हुआ और वह भी बेकार गया। हंसाजी मोहिते ने बीजापुर की सेनाओं को एक बार फिर पछाड़ कर बीजापुर द्वार तक धकेल दिया। इस प्रकार शत्रुता की पुनः शुरुआत के बाद चार वर्षों में ही शिवाजी ने अपना जो कुछ खोया था, उसे पुनः प्राप्त कर लेने में सफलता प्राप्त की, साथ ही अपनी विजय-पताका चारों दिशाओं में, जल तथा थल हर कहीं लहराई। उत्तर में वह सूरत तक बढ़ते चले गए, दक्षिण में हुबली तथा बदनूर में प्रवेश किया तथा पूर्व में बरार, गोलकुण्डा तथा बीजापुर को लिया। ताप्ती के दक्षिण में चौथ तथा सरदेशमुखी को मुगलों से कर के रूप में वसूला, तथा गोलकुण्डा और बदनूर के शासकों को उनका करदाता बनना पड़ा। देशी इतिहास लेखकों के अनुसार शिवाजी ने हिन्दुओं की पादशाही चलाने के अपने दावे को पूरा कर दिखाया। इसके लिए उन्हें तीन मुसलमान बादशाहों को परास्त करके उन्हें आत्म-समर्पण के लिए बाध्य करना पड़ा था। इन सफलताओं के कारण शिवाजी तथा उनके सलाहकारों के मन में एक औपचारिक राज्याभिषेक का विचार उपजा, जो तीस वर्षों से लगातार किये जा रहे प्रयासों के प्रतीक स्वरूप हो। राज्याभिषेक का एक उद्देश्य यह भी था कि दक्षिण भारत की जो बिगड़ी हुई दशा थी, उसमें दक्कन के सभी प्रधान शासकों को एक कर के सत्ता तथा एकता का एक ऐसा केन्द्र स्थापित कियाजाए जहा से औरंगजेब के सम्भावित बड़े हमले के खतरे का सामना करना सम्भव हो सके।

और इस प्रकार हम शिवाजी के जीवन के चौथे एवं अन्तिम काल में प्रवेश करते हैं। इस काल का शुभारम्भ हुआ राज्याभिषेक के पूरे हर्षोल्लास के साथ। एक शक्तिशाली हिन्दू राज्य की स्थापना की घोषणा पूरी गरिमा के साथ होनी चाहिए। सह्याद्रि की पर्वत-शृंखलाओं से लेकर समुद्री तटों तक का पूरा क्षेत्र तोपों की गड़गड़ाहट से गूज उठा। उनके जीवन के अन्तिम वर्षों में मुगलों ने फिर उन पर कोई हमला नहीं किया और वे बीजापुर तथा गोलकुण्डा को जीतने में लगे रहे। गोलकुण्डा पर मुगल सम्राट का एक हमला हम्बीरराव मोहिते के ठीक समय पर पहुंच जाने के कारण असफल रहा। गोलकुण्डा का राजा शिवाजी की छत्रछाया में अपने को सुरक्षित भी अनुभव कर रहा था। उसने भी शिवाजी के कर्नाटक अभियान में उनकी मदद की, जिस में वह दक्षिण में काफी दूर तंजौर तक निकल गए। उन्होंने वेलोर को जीता, जिंजी

की किलेबन्दी की और मैसूर तक पूरी सड़क पर सैनिक चौकियां बना दी। उन दिनों मुगल सेनापतियों के कारण, जिन्होंने बीजापुर को घेर रखा था, उसकी दशा बहुत खराब थी। आदिलशाही राजाओं तथा उनके सलाहकारों के पास इसके अलावा कोई और चारा नही रह गया था कि वह शिवाजी से मदद मागें। पुरानी दुश्मनी को भुलाकर शिवाजी ने सेना भेजकर उनकी मदद की, जिसने सूरत से बरहानपुर तक मुगल प्रदेशों को तहस-नहस कर डाला और आक्रामक सेना पर पीछे तथा दाएं-बाए से काफी हमले किए। इस प्रकार मुगल सेनाध्यक्ष नगर की घेराबन्दी उठाने और औरंगाबाद लौट जाने को बाध्य हुए। इस काल की, सैनिक महत्व की घटनाएं बस इतनी ही हैं। पर इसी काल में शिवाजी को जो समय मिला उसमें उन्होने नागरिक प्रशासन में सुधार का कार्य किया। उस सुधार की विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में होगी। पर यहा इस बात का उल्लेख अवश्य ही समीचीन होगा कि जहा अपने जीवन के पहले काल में शिवाजी ने अपने कार्यकलाप को चाकण तथा नीरा के बीच के क्षेत्रो तक सीमित रखा, वही अन्तिम काल में वह ताप्ती के दक्षिण के सबसे शक्तिशाली देशी शासक साबित हुए और उनके अपरिमित प्रभाव को ताप्ती से कावेरी तक के हिन्दू तथा मुसलमान सभी राजाओं ने माना।

अध्याय 7

शिवाजी का नागरिक शासन

शिवाजी के सैनिक कारनामों के इतिहास से उनकी कुशल बुद्धि के केवल एक पक्ष का पता चलता है और हम अक्सर भूल जाते हैं कि उनके व्यक्तित्व में एक असैनिक शासक के रूप में भी भारी आकर्षण है। नेपोलियन प्रथम की तरह वह एक बड़े संगठनकर्ता तथा नागरिक संस्थाओं के निर्माता थे। इसीलिए उनके आन्दोलन भी सफल हुए, और इसी वजह से देश उस खतरे से भी बच निकलने में सफल हो सका जो उनके ऊपर उनकी मृत्यु के तुरन्त बाद आ पड़ा था। उनके संगठन-कौशल के कारण ही मुगलों से बीस साल के संघर्ष के बाद देश का आजादी का सपना भी पूरा हुआ। इन नागरिक संस्थाओं का विशेष अध्ययन इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि इससे शिवाजी के दृष्टिकोण की मौलिकता तथा व्यापकता का पता चलता है, और यह भी मालूम होता है कि ये संस्थाएं तत्कालीन मुसलमान अथवा हिन्दू नागरिक संस्थाओं से कितनी भिन्न थीं। एक विशेष उल्लेखनीय बात यह भी है कि स्वाधीनता युद्ध के बाद जब देश को पुन. संगठित करने की आवश्यकता हुई तब नए शासकों ने मराठा शक्ति के नेता द्वारा निर्मित एकता तथा मेल-मिलाप के नियमों को तोड़ा और पृथकता के बीज बोए। और यही वह बात थी जिससे शिवाजी हमेशा बचना चाहते थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शिवाजी अपने नीचे पूरे देश की कोई सार्वभौमिक सत्ता कायम करना नहीं चाहते थे। उनका एकमात्र लक्ष्य था लोगों को स्वतंत्रता दिलवाना, एक राष्ट्र के रूप में उन्हें संगठित करना तथा एक शक्तिशाली सुरक्षा व्यवस्था स्थापित करना। उन्होंने दूसरी शक्तियों को मिटा देने की बात कभी नहीं सोची। गोलकुण्डा, बदनूर तथा बीजापुर, सभी के प्रधान शासकों से उनकी दोस्ती का सम्बन्ध था। तेलंगाना, मैसूर तथा कर्नाटक के अपने-अपने मामलों में भी उन्होंने कभी हस्तक्षेप नहीं किया और द्रविड़ देश में अपने भाई वेंकोजी के पास पिता की जागीर को रहने दिया। वह अपने लिए मुगलों से चौथ तथा सरदेशमुखी लेकर ही खुश थे। वह 'स्वराज्य' (स्व-शासित क्षेत्र) तथा 'मुगलई' (विदेशी राजाओं द्वारा शासित) शासन व्यवस्था में अन्तर मानते थे। जिस नागरिक शासन व्यवस्था की स्थापना उन्होंने की वह विशेषकर मराठा देश के लिए थी, पर यहीं-कहीं सैनिक गढ़ों में भी यही व्यवस्था चल रही थी, जैसे प्रायद्वीप के सुदूर दक्षिण के गढ़ों में।

83-M/D(N)504MofI&B—5

क्षेत्रों को उन्होंने अनेक प्रान्तों में बाट रखा था। पूना में उनकी पैतृक जागीर के अतिरिक्त उनके पास थे—(1) मावल प्रान्त, जिसमें मावल, सासवड़, जुन्नर और आज के खेड तालुका शामिल थे जो बड़े-बड़े अठारह पहाड़ी गढ़ों से घिरे थे; (2) वाई प्रान्त, जिसमें सतारा तथा कन्हाड शामिल थे जो पन्द्रह पहाड़ी गढ़ों से घिरे थे; (3) पन्हाला प्रान्त, जिसमें कोल्हापुर के पश्चिमी हिस्से थे और जो तेरह गढ़ों से घिरे थे, (4) दक्षिण कोकण प्रान्त, रत्नागिरि समेत जिसमें अट्ठावन पहाड़ी गढ़ तथा समुद्री किले थे; (5) थाना प्रान्त, उत्तर कोकण समेत बारह पहाड़ी गढ़, (6, 7) त्रिम्बक तथा बगलान प्रान्त, नासिक के पश्चिमी हिस्सों के बराबर, बासठ पहाड़ी दुर्ग। सैनिक व्यवस्था के अन्तर्गत क्षेत्रों के नाम हैं—(8) वानगड़ प्रान्त, धारवाड जिले के उत्तर के क्षेत्र, बाईस गढ़; (9, 10, 11) बदनूर, कोल्हापुर तथा श्रीरंगपाटन के प्रान्त, जो आज के मैसूर के हिस्से हैं, अठारह गढ़ों वाले; (12) कर्नाटक प्रान्त, कृष्णा के उत्तर में मद्रास राज्य शासन के अन्तर्गत, अठारह गढ़; (13) वेलोर प्रान्त, छः गढ़ों वाला। सह्याद्रि का पूरा इलाका गढ़ों से भरा पड़ा था और उन गढ़ों के पश्चिम की ओर समुद्र तट का सारा क्षेत्र, और पूर्व की ओर के भी तमाम हिस्से पचास से सौ मील की चौड़ाई में थे।

गाथाकारों का कहना है कि शिवाजी के अधिकार में कोई दो सौ अस्सी दुर्ग थे। एक अर्थ में यह भी कहा जा सकता है कि ये तमाम गढ़ और उनके आसपास के क्षेत्र शिवाजी के नागरिक प्रशासन के अन्तर्गत आते थे। वह लगातार काफी पैसा खर्च कर नए दुर्ग बनवाते रहे और पुराने दुर्गों को ठीक करवाते रहे। उन दुर्गों को सैन्य-सम्पन्न तथा धन-धान्य पूर्ण करने की उनकी व्यवस्था काफी विस्तृत थी। उनके सारे सैनिक कार्यकलापों के केन्द्र भी यही गढ़ थे, और इन्हें हमलों को रोकने के लिए भी इस्तेमाल में लाया जाता था। पूरा का पूरा साम्राज्य इन्हीं गढ़ों रूपी कड़ियों से बधा-सा था और दुर्भाग्य के दिनों में यही मराठों की शरणस्थली होते थे। औरंगजेब ने एक बार जब अपनी पूरी शक्ति के साथ चढ़ाई की तो सतारा जिले का सतारा दुर्ग ही उसकी घेरेबंदी को कई महीने तक झेलता रहा और अन्त में यद्यपि उसने इसको अपने अधिकार में ले लिया, पर राजाराम, आज के अवध राजाओं के पुरखे ने उसे फिर वापस ले लिया था। तोरण तथा रायगढ़ के नाम जुड़े हैं शिवाजी की प्रथम विजयों के साथ, शिवनेरी था उनका जन्मस्थान, बाजी प्रभु के वीरतापूर्ण रक्षा कार्य के कारण पुरन्दर को याद किया जाता है और रोहिड़ा तथा सिंहगढ़ हमेशा बहादुर तानाजी मालुसरे की याद के साथ जुड़ते रहेंगे। पन्हाला ने सिद्दी जौहर की घेरेबन्दी को झेला था और रंगणा की रक्षा में बहादुर प्रभु के जीवन का बलिदान हुआ था। मालवा तथा कोलाबा दुर्गों से मराठा सैनिक बेड़े के समुद्री हमले होते थे। अफजलखां के जीवन के दुःखान्त नाटक के कारण प्रतापगढ़ जाना गया तथा माहुली और सलेरी

उन युद्धों के दृश्य बने जिनमें मराठा मावलियों ने मुगल सेनापतियों को परास्त किया। दूसरी ओर इन पहाडी गढ़ो के सुदूर पूर्व जाइए तो आपको दिखाई देंगे कल्याण, भिवंडी, वाई, कन्हाड, सूपा, खटाव, बारामती, चाकण, शिरवल, मिरज, तासगाव तथा कोल्हापुर के किले। शिवाजी को इन किलो की देखरेख की कितनी परवाह रहती थी, इसी से जान पड़ता है कि इनकी भूमिकाएं कितनी महत्वपूर्ण थी। हर किले को एक मराठा हवलदार की देखरेख में रखा जाता था, जो खुद अपने सहायक नियुक्त करता था। किले की हर गोल दीवार की रक्षा का दायित्व उसी सहायक का होता था, जिसकी सहायता करता था एक ब्राह्मण सुबेदार अथवा 'सबनीस', जिसका चुनाव ब्राह्मणो के तीन बडे वर्गों से किया जाता था। सहायक रूप में एक 'कारखानीस' भी होता था जो प्रभु जाति का होता था। अपने सहायको के साथ हवलदार ही सेना का अध्यक्ष भी होता था। ब्राह्मण सूबेदार के अधिकार क्षेत्र में थे नागरिक तथा मालगुजारी प्रबन्ध। उसी के अन्तर्गत किले के पास के सभी गाव भी थे। प्रभु अधिकारी का काम था अनाज तथा चारे का इन्तजाम करना, सैनिक भण्डारो को देखना तथा मरम्मत आदि के कार्य कराते रहना। काम के बटवारे में ये तीनो प्रकार के अधिकारी एक दूसरे से सम्बद्ध थे ताकि वफादारी बनी रहे और ईर्ष्या की भावना न पैदा हो। पहाडी हिस्सो की सुरक्षा का प्रबन्ध काफी कड़ाई के साथ होता था और किलो के निचले हिस्सो के जगलों की देखरेख का काम 'रमोशियों' तथा कुछ निम्न श्रेणी के लोगो के हाथ में था। किलो की रात और दिन, हर क्षण की पूरी चौकसी के लिए विस्तृत आदेश दिए जाते थे। उनमें तैनात की जाने वाली सेना की संख्या भी उनके महत्व और आकार-विस्तार के अनुरूप होती थी। हर नौ सिपाहियों पर एक नायक होता था, अस्त्र-शस्त्र थे बन्दूकें, तलवारें, भाले, बरछे तथा पट्टे, जो लम्बी पतली तलवारों के समान होते थे। हर व्यक्ति को उसके पद के अनुसार नकद तथा माल दिया जाता था।

यह तो पहाड़ी गढो की नागरिक व्यवस्था की बात थी, पर अब जरा मैदानी भागो की ओर देखें। मैदानी भाग महालों एव प्रान्तों में वितरित थे, आज की तालुका प्रणाली से बहुत कुछ मिलते-जुलते। एक महाल की औसत मालगुजारी पचहत्तर हजार से सवा लाख होती थी। दो तीन महालों का एक सूबा अथवा जिला होता था। एक सूबेदार का औसत सालाना वेतन चार सौ 'होन' अथवा सौ रुपया महीना होता था। मुगलों की नागरिक व्यवस्था में मालगुजारी प्रबन्ध गाव के पाटिल तथा कुलकर्णी अथवा शहर के देशमुख तथा देशपाण्डे देखते थे। शिवाजी की शासन व्यवस्था में गावों तथा जिलों के इन अधिकारियों को अपना हक मिलता रहा, पर प्रबन्ध का कार्य उनके हाथ से ले लिया गया और सीधा 'महालकारियों' और सूबेदारों को दे दिया गया। एक साथ दो या तीन गावों का बन्दोबस्त 'कामविस्दा

अथवा 'कारकून' देखते थे। मालगुजारी भी वे ही सीधा वसूल करते थे। जमीन पर लगान वसूली के प्रबन्ध में रद्दोबदल शिवाजी नहीं चाहते थे।

पहाड़ी गढ़ों में नियुक्त अधिकारियों का वर्गीकरण ठीक उसी प्रकार से किया गया था जिस प्रकार शिवाजी ने अपनी पैदल तथा घुड़सवार सेनाओं का वर्गीकरण किया था। हर पैदल सेना में दस सिपाही पर एक नायक होता था और इस प्रकार की पांच टुकड़ियों पर एक हवलदार। दो हवलदारों पर एक 'जुमलेदार' तथा दस जुमलों को मिलाकर एक हजार सिपाहियों की सेना का अधिकारी होता था 'हजारी'। सात हजारियों पर एक 'सरेनोबत' होता था जो पूरी मावली पैदल सेना का मुख्य अधिकारी होता था। घुड़सवार सेना में भी दो मुख्य वर्ग होते थ, 'बारगीर' तथा 'शिलेदार'। पच्चीस बारगीरों अथवा शिलेदारों के ऊपर एक हवलदार होता था, पाच हवलदारों पर एक 'जुमाल' तथा दस जुमालों पर एक 'हजारी'। इसी प्रकार पांच हजारियों पर एक 'पंच हजारी' होता था। पंच हजारी घुड़सवार सेना में सरेनोबत का मातहत होता था। पच्चीस घोड़ों पर एक पानीवाहक तथा नालबन्द होता था। हर उच्च पद वाले मराठा अधिकारी के नीचे, पैदल सेना तथा घुड़सवार दोनों में, एक ब्राह्मण सबनीस तथा एक प्रभु कारखानिस अथवा एक ब्राह्मण मजुमदार तथा एक प्रभु जामिनिस होता था। बरसात के दिनों में बारगीरों के घोड़े पड़ावों में खड़े कर दिए जाते थे जहां दाना और घास का पूरा प्रबन्ध होता था। कर्मचारियों के लिए भी बैरक बना दिए जाते थे। हर अधिकारी और कर्मचारी का बंधा हुआ वेतन था। एक 'पग हजारी' का वेतन एक हजार होन तथा पग पंच हजारी का दो हजार होता था। पैदल सेना में हजारी का वेतन पांच सौ और निम्न कर्मचारियों का वेतन तीन से नौ रुपया (घुड़सवार सेना में छः रुपया) सैनिक के पदानुसार होता था। साल के आठ महीनों में सैनिकों से आशा की जाती थी कि वे मुगल जिलों के लोगों से 'मुलुकगिरी' अथवा चौथ एवं सरदेशमुखी वसूल कर अपना खर्च चलाएंगे। इस प्रकार की सेवाओं में काम कर रहे कर्मचारियों को अपने साथ बीबी-बच्चे रखने की सख्त मनाही थी। जब कोई शहर लूटा जाता तब लूट के माल को हर सिपाही के बीच बराबर-बराबर बांटा जाता था। नियुक्ति के समय हर कर्मचारी को अपने सम्बन्धियों से इस बात की जमानत दिलवानी पड़ती थी कि उसका व्यवहार अनुशासन के अनुकूल रहेगा। सेनापतियों का वेतन अग्रिम दिया जाता था और उन्हें वसूल किए चौथ तथा सरदेशमुखी का पूरा हिसाब देना पड़ता था। शिवाजी के समय में लगान तथा मालगुजारी का कोई भी हिस्सा सेना पर खर्च नहीं किया जाता था। इन सख्त पाबन्दियों के बावजूद सेनाओं में भर्ती सम्बन्धी कोई कठिनाई कभी नहीं पैदा होती थी और कोई दूसरी नौकरी इतनी लोकप्रिय भी नहीं थी। इसीलिए हर वर्ष दशहरे के दिन जब इन सेवाओं में भर्ती के लिए आह्वान किया जाता था तब न जाने कितने मावली, कोंकण के देवकरी तथा खास महाराष्ट्र के शिलेदार तथा बारगीर भर्ती के लिए टूट पड़ते थे।

नकद भुगतान तथा मालगुजारी के इस सीधे प्रबन्ध की प्रणाली शिवाजी ने अपने पूरे राज्य में चला रखी थी। पुराने गाथाकारों ने इन दो क्षेत्रों में शिवाजी के परम्परा से कटने के तथ्य का विशेष उल्लेख किया है। शिवाजी ने स्वयं भी इसे बहुत महत्व दिया था। उनकी यह प्रबल धारणा थी कि पहले ये सारी गड़बड़िया भी इसी लिए होती थी क्योंकि मालगुजारी वसूल करने का पूरा कार्य गाव तथा जिलो के जमीदारो के हाथो में होता था। वे 'रैयत' से ज्यादा वसूल कर खजाने में कम जमा करते थे। और कभी-कभी केन्द्रीय सत्ता के आदेश की अवहेलना भी करते थे। शिवाजी ने जमीदारो का काम करने के लिए वेतनभोगियों की नियुक्ति की। वे थे 'कमविसदार' 'महलकरी' तथा 'सूबेदार'। कमविसदार अनाज और नकदी की वसूली करते थे। यह कार्य वह तभी कर लेते थे जब खेतो में अनाज पक रहा होता था। खेतों को सावधानीपूर्वक नाप लिया जाता था। खातों में उनके मालिक का नाम दर्ज होता था और उनसे लिख कर कबूल करा लिया जाता था कि वह साल में कितना देंगे। अनाज के रूप में सरकार पैदावार के पाच हिस्से का केवल दो भाग लेती थी। शेष तीन भाग पर किसान का हक होता था। सकट की घड़ी में, या कोई विपदा आ जाने पर सरकार की ओर से पेशगी देने का भी पूरा प्रबन्ध था जिसे 'तगाई' कहते थे। उनकी वसूली किस्तो में चार या पाच वर्षों में की जाती थी। सूबेदार वसूली का काम तो देखता ही था, दण्ड निर्धारण का काम भी उसी का था। उन दिनों दीवानी कचहरी का कोई विशेष महत्व नही था। झगड़ा होने पर सूबेदार मुद्दे का गाव के पंच के सामने रख देता था, अनेक बार कई दूसरे गाव भी शामिल कर लिए जाते थे, वह निर्णय सुनाता और उसे कार्यान्वित भी करता था।

जिले का नागरिक सगठन मुख्यालय के अधिकारियो के प्रति जिम्मेदार होता था। मुख्यालय के दो अधिकारी 'पंत अमात्य' तथा 'पंत सचिव' क्रमशः आजकल के वित्त मंत्री एवं मुख्य लेखाधिकारी के समान होते थे। जिले के लेखाकार इन्हीं अधिकारियो के पास भेजे जाते थे, वही उनकी बातचीत होती थी और गलतियों का पता चलने पर दण्डित भी किया जाता था। इन्हीं अधिकारियों को यह भी अधिकार होता था कि विभाग सम्बन्धी कार्यों को देखने के लिए जिलाधिकारी नियुक्त करें। मराठे प्रधान नागरिक अधिकारी पेशवा होते थे, और 'पंत अमात्य' तथा 'पंत सचिव' सीधे नीचे होते थे। मालगुजारी सम्बन्धी जिम्मेदारियों के अलावा उनके कुछ सैनिक दायित्व तथा अधिकार भी होते थे। 'शासक मण्डल' के भी ये महत्वपूर्ण सदस्य होते थे; उस मण्डल को 'अष्ट प्रधान' कहते थे, क्योंकि उसमें आठ विभागाध्यक्षों की मंत्री परिषद् होती थी। पेशवा प्रधानमंत्री होता था जो राजा के नीचे कार्य करता था। वही सैनिक तथा असैनिक शासन का भी प्रधान होता था और राजा के ठीक दाईं ओर सिंहासन के थोड़ा नीचे बैठता था। सेनापति ठीक बाईं ओर बैठता था और

अथवा 'कारकून' देखते थे। मालगुजारी भी वे ही सीधा वसूल करते थे। जमीन पर लगान वसूली के प्रबन्ध में रद्दोबदल शिवाजी नहीं चाहते थे।

पहाडी गढ़ों में नियुक्त अधिकारियों का वर्गीकरण ठीक उसी प्रकार से किया गया था जिस प्रकार शिवाजी ने अपनी पैदल तथा घुडसवार सेनाओं का वर्गीकरण किया था। हर पैदल सेना में दस सिपाही पर एक नायक होता था और इस प्रकार की पांच टुकडियों पर एक हवलदार। दो हवलदारों पर एक 'जुमलेदार' तथा दस जुमलों को मिलाकर एक हजार सिपाहियों की सेना का अधिकारी होता था 'हजारी'। सात हजारियों पर एक 'सरेनोबत' होता था जो पूरी मावली पैदल सेना का मुख्य अधिकारी होता था। घुड़सवार सेना में भी दो मुख्य वर्ग होते थ, 'बारगीर' तथा 'शिलेदार'। पच्चीस बारगीरों अथवा शिलेदारों के ऊपर एक हवलदार होता था, पाच हवलदारों पर एक 'जुमाल' तथा दस जुमालों पर एक 'हजारी'। इसी प्रकार पाच हजारियों पर एक 'पच हजारी' होता था। पंच हजारी घुड़सवार सेना में सरेनोबत का मातहत होता था। पच्चीस घोडों पर एक पानीवाहक तथा नालबन्द होता था। हर उच्च पद वाले मराठा अधिकारी के नीचे, पैदल सेना तथा घुड़सवार दोनों में, एक ब्राह्मण सबनोस तथा एक प्रभु कारखानिस अथवा एक ब्राह्मण मजुमदार तथा एक प्रभु जामिनिस होता था। बरसात के दिनों में बारगीरों के घोड़े पडावों में खड़े कर दिए जाते थे जहा दाना और घास का पूरा प्रबन्ध होता था। कर्मचारियों के लिए भी बैरक बना दिए जाते थे। हर अधिकारी और कर्मचारी का बंधा हुआ वेतन था। एक 'पग हजारी' का वेतन एक हजार होन तथा पग पंच हजारी का दो हजार होता था। पैदल सेना में हजारी का वेतन पाच सौ और निम्न कर्मचारियों का वेतन तीन से नौ रुपया (घुडसवार सेना में छः रुपया) सैनिक के पदानुसार होता था। साल के आठ महीनों में सैनिकों से आशा की जाती थी कि वे मुगल जिलों के लोगों से 'मुलुकगिरी' अथवा चौथ एव सरदेशमुखी वसूल कर अपना खर्च चलाएंगे। इस प्रकार की सेवाओं में काम कर रहे कर्मचारियों को अपने साथ बीबी-बच्चे रखने की सख्त मनाही थी। जब कोई शहर लूटा जाता तब लूट के माल को हर सिपाही के बीच बराबर-बराबर बाटा जाता था। नियुक्ति के समय हर कर्मचारी को अपने सम्बन्धियों से इस बात की जमानत दिलवानी पड़ती थी कि उसका व्यवहार अनुशासन के अनुकूल रहेगा। सेनापतियों का वेतन अग्रिम दिया जाता था और उन्हें वसूल किए चौथ तथा सरदेशमुखी का पूरा हिसाब देना पड़ता था। शिवाजी के समय में लगान तथा माल-गुजारी का कोई भी हिस्सा सेना पर खर्च नहीं किया जाता था। इन सख्त पाबन्दियों के बावजूद सेनाओं में भर्ती सम्बन्धी कोई कठिनाई कभी नहीं पैदा होती थी और कोई दूसरी नौकरी इतनी लोकप्रिय भी नहीं थी। इसीलिए हर वर्ष दशहरे के दिन जब इन सेवाओं में भर्ती के लिए आह्वान किया जाता था तब न जाने कितने मावली, कोंकण के हेटकरी तथा खास महाराष्ट्र के शिलदार तथा बारगीर भर्ती के लिए टूट पड़ते थे।

नक्द भुगतान तथा मालगुजारी के इस सीधे प्रबन्ध की प्रणाली शिवाजी ने अपने पूरे राज्य में चला रखी थी। पुराने गाथाकारों ने इन दो क्षेत्रों में शिवाजी के परम्परा से कटने के तथ्य का विशेष उल्लेख किया है। शिवाजी ने स्वयं भी इसे बहुत महत्व दिया था। उनकी यह प्रबल धारणा थी कि पहले ये सारी गड़बड़ियां भी इसी लिए होती थीं क्योंकि मालगुजारी वसूल करने का पूरा कार्य गांव तथा जिलों के जमींदारों के हाथों में होता था। ये 'रैयत' से ज्यादा वसूल कर खजाने में कम जमा करते थे। और कभी-कभी केन्द्रीय सत्ता के आदेश की अवहेलना भी करते थे। शिवाजी ने जमींदारों का काम करने के लिए वेतनभोगियों की नियुक्ति की। वे थे 'कमविसदार' 'महलकरी' तथा 'सूबेदार'। कमविसदार अनाज और नकदी की वसूली करते थे। यह कार्य वह तभी कर लेते थे जब खेतों में अनाज पक रहा होता था। खेतों को सावधानीपूर्वक नाप लिया जाता था। खातों में उनके मालिक का नाम दर्ज होता था और उनसे लिख कर कबूल करा लिया जाता था कि वह साल में कितना देंगे। अनाज के रूप में सरकार पैदावार के पांच हिस्से का केवल दो भाग लेती थी। शेष तीन भाग पर किसान का हक होता था। संकट की घड़ी में, या कोई विपदा आ जाने पर सरकार की ओर से पेशगी देने का भी पूरा प्रबन्ध था जिसे 'तगाई' कहते थे। उनकी वसूली किस्तों में चार या पांच वर्षों में की जाती थी। सूबेदार वसूली का काम तो देखता ही था, दण्ड निर्धारण का काम भी उसी का था। उन दिनों दीवानी कचहरी का कोई विशेष महत्व नहीं था। झगड़ा होने पर सूबेदार मुद्दे को गांव के पंच के सामने रख देता था, अनेक बार कई दूसरे गांव भी शामिल कर लिए जाते थे, वह निर्णय सुनाता और उसे कार्यान्वित भी करता था।

जिले का नागरिक संगठन मुख्यालय के अधिकारियों के प्रति जिम्मेदार होता था। मुख्यालय के दो अधिकारी 'पंत अमात्य' तथा 'पंत सचिव' क्रमशः आजकल के वित्त मंत्री एवं मुख्य लेखाधिकारी के समान होते थे। जिले के लेखाकार इन्हीं अधिकारियों के पास भेजे जाते थे, वहीं उनकी बातचीत होती थी और गलतियों का पता चलने पर दण्डित भी किया जाता था। इन्हीं अधिकारियों को यह भी अधिकार होता था कि विभाग सम्बन्धी कार्यों को देखने के लिए जिलाधिकारी नियुक्त करें। सबसे प्रधान नागरिक अधिकारी पेशवा होते थे, और 'पंत अमात्य' तथा 'पंत सचिव' सीधे नीचे होते थे। मालगुजारी सम्बन्धी जिम्मेदारियों के अलावा उनके कुछ सैनिक दायित्व तथा अधिकार भी होते थे। 'शासक मण्डल' के भी वे महत्वपूर्ण सदस्य होते थे; उस मण्डल को 'अष्ट प्रधान' कहते थे, क्योंकि उसमें आठ विभागाध्यक्षों की मंत्री परिषद् होती थी। पेशवा प्रधानमंत्री होता था जो राजा के नीचे कार्य करता था। वही सैनिक तथा असैनिक शासन का भी प्रधान होता था और राजा के ठीक दाईं ओर सिंहासन के थोड़ा नीचे बैठता था। सेनापति ठीक बाईं ओर बैठता था और

सैनिक शासन का प्रधान होता था। 'पन्त अमात्य' एवं 'सचिव' का स्थान पेशवा के बाद था और मंत्री सचिव के थोड़ा नीचे बैठता था। वही राजा के व्यक्तिगत मामलों का भी पदभार संभालता था। 'सुमंत' विदेश सचिव होता था और उसका स्थान था सेनापति के थोडा नीचे बाई ओर। इनके बाद आते है 'पण्डितराव' जो धार्मिक मामलों की देखरेख करते थे। और उनके थोड़ा नीचे ठीक बाई ओर बैठते थे मुख्य न्यायाधीश। 'अष्टप्रधान' प्रणाली का प्रतिरूप भारत सरकार के वर्तमान संविधान में भी देखा जा सकता है। पेशवा की जगह 'गवर्नर जनरल' तथा 'वाइसराय' होते है। दूसरे स्थान पर आते है मुख्य सेनाध्यक्ष। फिर स्थान होता है वित्त तथा विदेश मंत्रियों का। किन्तु भारत सरकार की प्रबन्ध समिति में धार्मिक मामलों का कोई अध्यक्ष नहीं होता है। मुख्य न्यायाधीश तथा व्यक्तिगत मामलो का सचिव भी नहीं होता है। उनकी जगह होते हैं गृह विभाग के मुख्याधिकारी सदस्य, कानूनी मामलों के सदस्य तथा सावजनिक कार्यों के मंत्री। परिस्थितियों के बदल जाने के कारण ही ये परिवर्तन किए गए होंगे, पर इन दोनों प्रणालियों का निहित उद्देश्य वही रहा होगा—अर्थात् राज्य के सर्वोच्च अधिकारियों की एक परिषद बनाना जो मिल-बैठकर राजकार्य में राजा की सहायता करे। यदि शिवाजी के अधिकारियों ने भी इसी प्रणाली का वफादारी से पालन किया होता, जैसा कि उन्होंने इसे मूलत. बनाया था, तो मराठा राज्यसंघ के सामने आने वाले बहुत सारे खतरे टल जाते, जिनकी वजह से अंग्रेजों की अनुशासित तथा साधन-सम्पन्न सरकार के आने के पहले ही मराठा देश टूटने-बिखरने लगा था। विघटन के बीज इस तथ्य में थे कि समय की यह माग थी कि ये सभी आठ प्रधान अथवा मंत्री, पण्डितराव एवं न्यायाधीश को छोडकर, सैनिक अध्यक्ष भी हों ताकि सेना का कार्यभार योग्य व्यक्तियों के हाथों में हो। शिवाजी ने स्वयं इसके विरुद्ध सतर्कता बरती थी और इसका प्रावधान किया था कि ये कोई भी पद किसी को उत्तराधिकार में न मिले। खुद अपने समय में भी उन्होंने चार मुख्य सेनाध्यक्ष नियुक्त किए थे—मनकोजी दहातोंडे, नेताजी पालकर, प्रतापराव गूजर तथा हम्बीरराव मोहिते। उन्होंने पहले पेशवा को कार्य मुक्त कर दिया था, उसकी जगह मोरोपंत पिंगले को दे दी थी। इसी प्रकार 'पंत अमात्य' भी बदलते रहे थे। दूसरे अधिकारी भी एक ही परिवार के न हों, इसका पूरा प्रबन्ध उन्होंने किया था। शाहू के शासनकाल के शुरू के वर्षों में इस सावधानी का पालन किया जाता रहा, पर बाद के वर्षों में बालाजी विश्वनाथ, प्रथम बाजीराव तथा बालाजी बाजीराव—इन तीन पेशवाओं की बुद्धि तथा प्रभुत्व के कारण, पेशवा का पद उन्हीं के परिवार वालो को मिलता रहा। दूसरे मंत्रियों के प्रतिनिधि अयोग्य थे और इसलिए धीरे-धीरे उनका महत्व कम होता रहा तथा शक्ति के समान वितरण एवं सन्तुलन का सिद्धान्त नष्ट हो गया। पेशवा के पूरे शासनकाल में 'अष्टप्रधान' अथवा राज्य के आठ मंत्रियों को कोई काम न रह गया था, अथवा नाममात्र का काम रह गया था।

शिवाजी की कल्पना की एक अच्छी संगठित सरकार की जगह उभर आई थी, एक एशियाई प्रकार की शासन व्यवस्था जिसमें सरकार की पूरी सफलता निर्भर होती थी, केन्द्र में स्थित सत्ता की शक्ति पर। इस नतीजे का दोषी शिवाजी की शासन-प्रणाली को नहीं ठहराया जा सकता। उनकी योजनाएं असफल इसलिए हुईं, क्योंकि उनके बताए हुए मार्ग को छोड़ दिया गया था।

एक दूसरे लिहाज से भी शिवाजी अपने समय से बहुत आगे थे। उन्होंने अपने को अपने सफल सैनिक तथा असैनिक अधिकारियों का जागीर के रूप में भूमि देने से रोका। पेशवा तथा सेनापति से लेकर एक सामान्य सिपाही अथवा 'कारकून' तक सभी सरकारी खजाने तथा खलिहाना से माल तथा नगदी के रूप में वेतन प्राप्त करने के हकदार थे। वेतन बंधे हुए थे और निश्चित समय पर दे दिए जाते थे। भूमि देने की प्रथा का बुरा समझा गया, क्योंकि अच्छी से अच्छी परिस्थिति में भी, और अच्छी से अच्छी भावना के बावजूद, उसका दुरुपयोग हो जाता था। स्वाभाविक है कि जागीर में प्राप्त की हुई जमीन के प्राप्तकर्ता अपने को मालिक अथवा सामंती जमींदार समझने लगते थे और वंशानुगत सम्बन्धों के कारण जब उनकी शक्ति बढ़ने लगती थी तब उन्हें आदम्य करने के लिए बल प्रयोग करना पड़ता था। हिन्दुस्तान में विकेन्द्रीकरण तथा असपोषना की प्रवृत्ति हमेशा काफी प्रबल रही है, इसलिए जागीर देने तथा जागीरदारों को उनकी आमदनी से अपनी एक सेना भी कायम करने की छूट के कारण उस प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता था और सुगठित शासन-व्यवस्था कठिन हो जाती थी। शिवाजी ने तो जिलों के जमींदारों को भी अपनी सुरक्षा के लिए किले बनवाने की अनुमति नहीं दी और उनसे यह अपेक्षा की कि वे रैयतों की तरह सामान्य घरों में ही रहें। शिवाजी के समय में कोई एक भी ऐसा बड़ा आदमी नहीं था जिसने अपनी किसी बड़ी अचल सम्पत्ति को अपने उत्तराधिकारियों के नाम किया हो। न तो मोरोपंत पिंगले, आवाजी सोनदेव, रघो बल्लाल, दत्तो अण्णाजी, नीरजी रावजी आदि ब्राह्मणों ने और न मालुसरे प्रतापराव गूजर, नेताजी पालकर, हम्बीरराव मोहिते अथवा मराठा सरदारों ने ही अपना कोई ऐसा प्राचीन वंशाधिकार स्थापित करने की कोशिश की जैसा कि अठारहवीं सदी के शुरू में शाहू मंत्रियों ने किया।

शिवाजी ने भूमि का दान सिर्फ परमार्थ कार्य तथा मन्दिरों के लिए स्थायी निधि की स्थापना के लिए किया। पर इनकी स्थापना भी सार्वजनिक न्यास के रूप में होती थी और उनके कार्यकर्ताओं के कोई सैनिक दायित्व नहीं थे, न ही वे राज्य के लिए कोई खतरा पैदा कर सकते थे। धर्मार्थ संस्थाओं में ज्ञान के प्रोत्साहन के लिए 'दक्षिणा प्रथा' शिवाजी को बहुत अच्छी लगती थी। वह एक पुराना रूप था—परिणाम के आधार पर पुरस्कार देने की आधुनिक प्रथा का। ब्राह्मणों को मिलने वाले

दक्षिणा का 'मान' इनसे प्राप्त की हुई शिक्षा के गुण तथा परिणाम के अनुसार होता था। उन दिनों सार्वजनिक विद्यालयों की प्रथा नही थी ; शिष्यों को निजी. अध्यापक ही अपने घर पर बुलाकर पढ़ाते थे, और वर्ष में जो कुछ भी 'दक्षिणा' में प्राप्त होता था वह गुरु तथा शिष्य दोनों की आवश्यकता से कहीं अधिक था। संस्कृत की शिक्षा का स्तर सबसे निम्न था पर शिवाजी के राज्य के कायम होते ही उसे बढ़ावा दिया जाने लगा और दक्कन का पूरा क्षेत्र अपने उन विद्वानों के कारण मशहूर हो गया जो बनारस जाकर अध्ययन करते और फिर मान-सम्मान के साथ अपने-अपने 'देश' लौट कर राजा से पुरस्कार प्राप्त करते थे। ज्ञान के प्रोत्साहन के लिए दक्षिणा की इस प्रणाली को मुगलों द्वारा संभाजी के पकड लिए जाने के बाद भी तालेगांव के दाभाड़ों ने कायम रखा। और जब दाभाड़ों का महत्व कम हो गया तब पेशवाओं ने इन न्यासों को अपने हाथ में ले लिया, उनका विस्तार किया और ये भारत पर अंग्रेजों की विजय तक फलते-फूलते रहे। कहा जाता है कि उन दिनों 'दक्षिणा' में दी जाने वाली अनुदान राशि पांच लाख से भी अधिक थी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि शिवाजी की नागरिक सरकार व्यवस्था निम्नलिखित बातों में उनके पहले तथा बाद की व्यवस्थाओं से भिन्न थी :

(1) उन्होंने पहाड़ी गढ़ों को बहुत महत्व दिया और वस्तुतः वहीं से उनकी नागरिक प्रशासन प्रणाली की भी शुरुआत हुई।

(2) बड़े-बड़े पदों के एक ही वंश अथवा परिवार में चलते रहने को रोका।

(3) सैनिक तथा असैनिक अधिकारियों को जागीर देने की प्रथा भी बन्द की।

(4) मालगुजारी वसूली की सीधी व्यवस्था की तथा जिले अथवा गांव के जमींदार बिचौलियों को समाप्त किया।

(5) चकबन्दी को खत्म किया।

(6) मंत्रियों की एक परिषद बनाई, उनके बीच काम का बंटवारा किया और उन्हें सीधे राजा के प्रति जिम्मेदार ठहराया।

(7) नागरिक शासन में सेना को गौण स्थान प्रदान किया।

(8) छोटे तथा बड़े सभी पदों पर ब्राह्मण, प्रभु तथा मराठा सभी को प्रतिनिधित्व दिया और इस प्रकार अंकुश तथा सन्तुलन की व्यवस्था की।

यह सही है कि इन मुख्य विशेषताओं की कुछ बातें उसी प्रकार काफी दिनों नहीं चल पाईं। इसका कारण यह था कि मराठा शक्ति सिर्फ 'स्वराज्य' के जिलों तक सीमित न रह कर सभी दिशाओं में फैलती हुई पूर्व में कटक, पश्चिम में काठियावाड़, उत्तर में दिल्ली और दक्षिण में तंजौर तक फैल गई। खास मराठा देश में पूरा का पूरा राष्ट्र, सेना, बड़े-बड़े अधिकारी तथा स्वयं राजा सभी एक ही वंश के थे और इसलिए एक ही उद्देश्य के प्रति वफादारी से बंधे हुए थे। यह हिन्दुस्तान के सुदूर देशों में सम्भव नहीं था जहां लोग एक दूसरे से काफी भिन्न थे। एक बात और थी, सेना ने जिन लोगों ने उन देशों पर अधिकार किया हुआ था उनका दृष्टिकोण देशभक्ति न होकर पेशेवर था। इसीलिए यहां जा सकता है कि शिवाजी द्वारा स्थापित संस्थाएं इतनी लचीली नहीं थीं कि वे पूरे स्थान के लिए अनुकूल हो सकें! उदाहरणार्थ पहाड़ी दुर्गों तथा मैदानी भागों में शासन की दृष्टि से इतना अन्तर था कि एक जगह की प्रणाली दूसरी जगह उपयुक्त नहीं हो सकती थी और गुजरात तथा मालवा, अथवा स्वयं महाराष्ट्र के पूर्वी जिलों के मैदानी भागों में एक दूसरी तरह के शासन की आवश्यकता थी। इसी प्रकार मालगुजारी के सीधे वसूल करने सम्बन्धी बड़े नियम तथा बड़े किसानों एवं जमींदारों को एकदम खत्म कर देने का निश्चय भी हर जगह समान रूप से सफल नहीं हो सकता था क्योंकि उन जगहों की सरकारी परम्परा दूसरी तरह की थी। इसलिए यद्यपि हमें कहीं-कहीं इस प्रकार के अन्तर को स्वीकार करना पड़ेगा, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि शिवाजी की शासन प्रणाली से इस प्रकार विमुख होना निश्चय ही एक अधोगामी कदम था, और जिसका कोई विशेष क्षम्य कारण नहीं था। हुआ यह कि जो लोग शिवाजी के बाद आए उन लोगों ने एक तो उनकी योजनाओं के महत्व को नहीं समझा, दूसरे उन्होंने कुछ स्थानीय सुविधाओं के दबाव में उन्हें अपने-अपने हिसाब से बदल लिया। इस तरह जो बिल्कुल संगठित था वह धीरे-धीरे विघटित होता गया, उसकी जड़ कमजोर पड़ती गई और मराठा इतिहास में एक बड़े संकट का खतरा पैदा हो गया।

उदाहरणार्थ, आठ मन्त्रियों की परिषद् द्वारा सरकार चलाने की कार्य विधि शाहू के राज्यकाल तक तो थी, पर जब पेशवा के अधिकार बढ़ गए तब वह धीरे-धीरे निरर्थक होती गई और पेशवाओं ने जब पूना को अपनी राजधानी बनाया तब तो वह बिलकुल समाप्त ही हो गई। शाहू की मृत्यु के बाद 'पंत अमात्य' एवं 'पंत सचिव' के अधिकार, जो असैनिक शासन में पेशवाओं के बाद सबसे अधिक शक्तिशाली थे, बिलकुल खत्म हो गए और वे मात्र जागीरदार बने रह गए। पेशवाओं ने उनकी जगह कोई और अधिकारी नियुक्त करने का प्रयास अथवा परवाह भी नहीं की, और सारा काम अपनी जिम्मेदारी पर खुद ही देखते रहे। इस प्रकार एक तरह व्यक्तिगत शासन सत्ता की शुरूआत हुई जो स्थायी नहीं हो सकती थी और ...

ही यदि शिवाजी द्वारा स्थापित संस्थाओं को वफादारी से बनाए रखा जाता तो ऐसी दशा कभी भी पैदा न होती।

शिवाजी द्वारा निर्मित तथा कार्यान्वित नियमों के विरुद्ध एक बात यह भी हुई कि बड़े-बड़े पदों पर लोगों को ऐसे नियुक्त किया जाने लगा जैसे वे उनके वंश परम्परागत हक हों। जब खुद पेशवा का पद ही वंशानुगत हो गया तो दूसरे पद भी हो गए तो इसमें आश्चर्य की क्या बात ? किन्तु चूंकि मनुष्य की स्वाभाविक क्षमताएं तथा विशेषताएं किसी की बपौती नहीं होतीं, इसलिए इन अयोग्य व्यक्तियों वाली सरकारों के कारण बरबादी होने लगी। विशेषाधिकार के कारण पेशवाओं की चार-चार पीढ़ियां सत्ता को हथियाए रहती थीं, जबकि दूसरे परिवारों के अधिकारियों को यह हक नहीं मिलता था। छोटे पदों से उठकर न जाने कितने लोगों ने ऊंचे पदों को प्राप्त किया, पर किसी को भी साम्राज्य की सलाहकार समिति में नहीं लिया गया। उदाहरणार्थ, नाना फड़नवीस प्रधानमन्त्री होना चाहते थे। महादजी शिन्दे भी एक अल्प महत्व के सरदार के पद से तरक्की कर अपने समय के सबसे शक्तिशाली सेनापति होने में सफल हुए थे। पर इनमें से किसी को भी (और न किसी अन्य व्यक्ति को) केन्द्रीय समिति में नहीं लिया गया। फलत: कभी शक्ति और कभी चालाकी से दोनों एक दूसरे का पद हड़पने की कोशिश करते रहे और एक दूसरे को नीचे गिराया। एक बात और भी हुई। अक्सर बड़े-बड़े सैनिक अध्यक्ष अपने-अपने क्षेत्रों के राजा होते गए और अपनी-अपनी मर्जी के अनुसार युद्ध और शान्ति के खेल खेलते रहे। इस खतरे से बचा जा सकता था, यदि परामर्श-दाताओं की समिति द्वारा सरकार चलाने की पद्धति को कायम रखा जाता और उसमें बदलती हुई परिस्थितियों के परिवेश में थोड़ा उलट फेर करते रहा जाता और यदि वंशानुगत सिद्धान्त को भी शिवाजी की मृत्यु के बाद की दो पीढ़ियों के दौरान इतनी गहरी जड़ें न जमाने दिया गया होता।

सब से बड़ा अन्तर तो तब आया जब इस सिद्धान्त को त्याग दिया गया कि जीते हुए बड़े-बड़े भूमि क्षेत्रों को जागीर के रूप में न दिया जाए। इस अन्तर का कारण एक हद तक स्वयं शाहू सरकार की मजबूरी थी। वह मजबूरी उन घटनाओं से पैदा हुई थी जो शाहू के राजा बनने के पहले घटी थीं। सम्भाजी की मृत्यु के बाद मुगलों ने पूरे मराठा देश को जीत लिया था तथा राजाराम और इसके सलाहकारों को खदेड़ कर बहुत दूर दक्षिण भेज दिया था। पूरा का पूरा काम फिर से शुरू करना था तथा नए नेताओं को भी कुछ समय मिलना चाहिए था। इसलिए राजाराम के सलाहकारों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता था और शाहू के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में परिस्थितियां सचमुच ही काफी कठिन तथा विपरीत थीं। लेकिन जब महाराष्ट्र

में शाहू की सरकार स्थापित हो गई तथा साम्राज्य को सभी दिशाओं में फैलाने की योजना स्वीकार कर ली गई तब स्थानीय सुविधाओं का ख्याल इतना आवश्यक नहीं था कि उन्हें रोका न जा सकता था। यहीं पर एक गलती यह हो गई कि हर बड़े सिपाही से यह दिया गया कि वह चाहे तो अपनी एक जागीर बना ले। पीलाजी तथा दामाजी गायकवाड़ ने अपने को गुजरात का राजा घोषित कर दिया। नागपुर के भोंसले भी अपने को सर्वोच्च समझने लगे, जबकि पवार, शिन्दे तथा होलकर मालवा तथा उत्तर भारत के शासक बन बैठे। केन्द्र के साथ इनकी वफादारी का रिश्ता भी ढीला था, जो सिर्फ महाराष्ट्र के पेशवा को मालगुजारी का एक हिस्सा देने के अनुबन्ध तक सीमित था। इस प्रकार जब ये जागीरें लोगों की बपौती हो गई तब संगठित शासन के बदले में असंगठित शासन की स्थापना प्रक्रिया पूरी हो गई। जिन लोगों को ये बड़े-बड़े क्षेत्र मिले उन लोगों की आम उद्देश्य के प्रति वफादारी बनी रही। किन्तु उनके उत्तराधिकारी इसे अपना निजी मामला समझते थे और उन्हें आम उद्देश्य की बात निजी मामला मे हस्तक्षेप के समान जान पड़ती थी। इस प्रकार शिवाजी द्वारा निर्धारित नीति से लोगों के हट जाने के कारण जनहित को काफी धक्का लगा।

शिवाजी की शासन प्रणाली में मालगुजारी की वसूली का प्रबन्ध सीधा केन्द्र के हाथ में था और उसमें गाव अथवा जिले के जमींदार का कोई हस्तक्षेप नहीं था। उनके उत्तराधिकारियों ने इस व्यवस्था को बड़ी वफादारी के साथ निभाया। यही व्यवस्था नाना फड़नवीस की मृत्यु तक पेशवा शासन में भी चलती रही और चकबन्दी लगान को कोई महत्व नहीं दिया गया। पर अन्तिम पेशवा शासन के आते ही मराठा देश का जिला में बाटा जाने लगा। मालवा, गुजरात तथा दूर उत्तर भारत के अन्य प्रान्तों में चकबन्दी पहले से ही चली हुई थी और इसका कारण यह था कि उन क्षेत्रों की विषम परिस्थितियों में यही व्यवस्था कारगर हो सकती थी। इसलिए, जहा तक इस व्यवस्था का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि शिवाजी की परम्परा का पालन किया गया, लेकिन मराठो, ब्राह्मणो तथा प्रभु जाति के लोगों में पद एवं अधिकार के वितरण सम्बन्धी जो सावधानिया शिवाजी ने बरती थी, उन्हें उनके उत्तराधिकारियों ने भुला दिया। प्रभुओं ने शिवाजी के प्रारम्भिक कार्यकाल में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, पर बालाजी बाजीराव के बाद, पेशवा काल के बाद के इतिहास में उनका कोई विशेष स्थान नहीं रह गया था। उस समय सिर्फ एक उल्लेखनीय नाम था सखाराम हरी का जो रघुनाथ राव पेशवा के समय में सेनापति थे। फिर भी, बड़ोदा तथा नागपुर के दरबारों में इस जाति के प्रतिनिधि अभी भी सैनिक तथा असैनिक मामलों में काफी महत्वपूर्ण बने हुए थे। जहां तक ब्राह्मणों का सवाल है, समझा जाता है कि कोंकणस्थ ब्राह्मणों को तो शिवाजी महान के समय नोकरी नहीं दी जाती थी। किन्तु देशी गाथाकारों का कथन है कि इस समुदाय के तीनों वर्गों के लोगों को पहाड़ी गढ़ों में सूबेदारों तथा सेनापतियों के

रूप में नियुक्त किया गया था। स्वाभाविक है कि शिवाजी तथा उनके दो बेटों के शासन काल में देशस्थ ब्राह्मणों का महत्व अग्रिम था। शाहू के समय जब पेशवा की शक्ति बढ़ी तब कोंकणस्थों को भी प्रश्रय दिया जाने लगा, किन्तु इससे यह वर्गीय असन्तुलन और खुलकर सामने आ गया, क्योंकि भतीजों के साथ शाहू के युद्धों में प्रमुख देशस्थ जागीरदारों ने रघुनाथराव का पक्ष लिया था।

शिवाजी के काल में सेना में विभिन्न पदों पर मराठों का एकाधिकार तो नहीं था, पर छोटे तथा बड़े हर प्रकार के पदों पर उनका प्राधान्य अवश्य था। अपने रणकौशल में ब्राह्मण सेनापति उतने ही बहादुर थे जितने मराठा सेनापति। शुरू के पेशवाओं के काल में भी यही बात थी। बड़े से बड़े मराठा सेनापतियों का प्रशिक्षण प्रथम बाजीराव पेशवा के स्कूल में हुआ था। जब वे बड़े मराठा परिवार, जिन्होंने बाजीराव के मातहत काम किया था, अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दूर प्रान्तों के वास्तविक शासक बन बैठे और इतने शक्तिशाली हो गए कि केन्द्र की सत्ता को खतरा पैदा हो गया, तब पूना की सरकार की नीति शक्ति सन्तुलन की नीति हो गई। इसलिए दक्षिण में ब्राह्मण सेनाध्यक्षों, जैसे पटवर्धन, फड़के तथा गोखले आदि को महत्व दिया गया। फिर भी वे शिन्दे तथा होल्कर आदि की तुलना में टिक नहीं पाए। इस प्रकार प्रतिद्वंद्विता की जो भावना पैदा हुई, उससे जनहित की सबसे अधिक हानि हुई।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि शिवाजी के उत्तराधिकारी सरकार चलाने के उनके मूल सिद्धान्तों से जहां हटे, वहीं से मराठा शक्ति के ह्रास की प्रक्रिया शुरू हुई यह प्रक्रिया भारत में अंग्रेजों से टकराव के पहले ही शुरू हो गई थी। अंग्रेजों की सत्ता जब कायम हो गई तब उन्होंने शिवाजी की ही सरकारी प्रणाली को अपनाया, न कि उनके उत्तराधिकारियों की व्यवस्था का। भारत में ब्रिटिश शासन व्यवस्था का मूल सिद्धान्त था सैनिक तथा असैनिक शक्तियों का पूरा अलगाव, तथा पहली के प्रति दूसरी की यथोचित अधीनता। सैनिक अथवा असैनिक किसी भी प्रकार के काम के लिए भूमि न देकर नगद भुगतान करना इस शासन व्यवस्था का मूल मन्त्र था। ऊंचे अथवा निम्न, किसी भी प्रकार के सार्वजनिक पद पर वंशानुगत नियुक्तियों को भी खत्म कर दिया गया। सरकार चलाने के लिए परिषदों तथा समितियों की नियुक्ति की गई और सब कुछ किसी एक शासक के निर्णय अथवा विवेक पर छोड़ देने की प्रथा को बन्द कर दिया गया। मालगुजारी की वसूली भी वेतनभोगी अफसरों द्वारा की जाने लगी और पुरानी जमींदार अथवा काश्तकारी को खत्म कर दिया गया। सरकारी नौकरियां भी रैयत के सभी वर्गों के लोगों को मिलने लगीं। सरकारी नीति के इन सिद्धान्तों के परिणाम-

कुछ थोड़े से अंग्रेजों ने देश का शासन कुछ इस प्रकार चलाना शुरू किया कि

इतिहास के देशी तथा विदेशी दोनों प्रकार के विद्वानों ने इसे राजनीति का एक बड़ा करिश्मा समझा। इससे शिवाजी के सिद्धान्तों की उपयोगिता भी साबित हुई। इसी से सफलता मिली थी शिवाजी को भी, और उन लोगों को भी जिन्होंने पुराने राज्य संघ के खण्डहरों पर एक साम्राज्य स्थापित किया, और जो टूट इसलिए गया की अगली पीढ़ियों ने उन मूल सिद्धान्तों को भुला दिया जिन्हें शिवाजी ने उनके मार्गदर्शन हेतु निर्मित किया था।

अध्याय 8

महाराष्ट्र के संत और पैगम्बर

शिवाजी के आध्यात्मिक गुरु रामदास ने शिवाजी के बेटे संभाजी से पिता के चरण चिह्नों का अनुसरण करने को कहा था और उन्होंने जो परामर्श दिया था उसका सार संक्षेप इस प्रकार है—"मराठों को एकता के सूत्र में पिरो दो एवं महाराष्ट्र के धर्म का प्रसार करो।" पहला आदेश उस राजनैतिक आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी परिणति हुई थी शिवाजी के नेतृत्व मे, और दूसरा स्पष्ट प्रतीक है उस धार्मिक विकास का जो पूरे देश में जोर शोर से हो रहा था और राजनैतिक आन्दोलन भी जिसकी एक छाया मात्र था। अब हमारे लिए विचारणीय विषय स्वाभाविक रूप से यह हो जाता है कि रामदास ने जब संभाजी को 'महाराष्ट्र के धर्म का प्रसार' करने का आदेश दिया तब उनका तात्पर्य क्या था और उन्होंने वेद, पुराण अथवा हिन्दू धर्म के प्रचार-प्रसार की बात क्यों नहीं की ? उस समय लोगों के मन में, और उनकी धार्मिक मान्यता में, वह कौन सी ऐसी खास बात थी जिनकी ओर शिवाजी का ध्यान इतना अधिक आकर्षित हुआ, और जिसे उन्होंने लोगों के लिए मुक्ति का रामबाण समझा—ऐसे लोगों की मुक्ति का जो सत्रहवीं सदी के अन्त में संभाजी की अत्यन्त छिन्न-भिन्न शासन-व्यवस्था में जी रहे थे। महाराष्ट्र की राजनैतिक तथा धार्मिक उथल-पुथल के बीच के इस गहरे सम्बन्ध का काफी महत्व समझना चाहिए। इसीलिए जो इतिहासकार इस मूल तथ्य को समझे बिना मराठा शक्ति के विकास का मूल मंत्र ढूंढना चाहते हैं, वह उसके राजनैतिक संघर्षों की साहसपूर्ण कहानी की भूल-भुलैया में पड़कर रह जाते हैं, और उनके वृतान्त से कोई स्थायी नैतिक चित्र नहीं उभरता। आन्दोलन के इस दुहरे चरित्र के तथ्य को भारतीय तथा विदेशी दोनों ही प्रकार के लेखक समझ नहीं पाए हैं। राष्ट्रीय जन-मानस से आध्यात्मिक मुक्ति के तत्व को अलग करके देखने की भूल के कारण ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए मराठा संघर्ष के बारे में पक्षपातपूर्ण धारणाएं पैदा हुई हैं।

इसलिए इस अध्याय का उद्देश्य है मोटे तौर पर पश्चिमी भारत के धार्मिक आन्दोलनों की एक ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत करना। हमारी सूचना के मुख्य स्रोत महाराष्ट्र के संतों-पैगम्बरों की वे बड़ी-बड़ी जीवनियां जिन्हें हमारे ही एक

रोहिदास इन सभी ने इस आध्यात्मिक उदय में अपने-अपने ढंग से अपना योग दिया। इसमें सन्देह नहीं कि इन सबका प्रभाव बड़ा तथा स्थायी था; पर उनकी तुलना महाराष्ट्र के संतों तथा पैगम्बरों से नहीं हो सकती। चांगदेव, ज्ञानदेव, निवृत्ति तथा सोपान, मुक्ताबाई तथा जनी, आकाबाई तथा वेणूबाई, नामदेव तथा एकनाथ, रामदास तथा तुकाराम, शेख मुहम्मद तथा शान्ति बहमनी, दामाजी तथा उद्धव, भानुदास तथा कुर्मदास, बोधले बाबा तथा सन्तोबा पवार, केशव स्वामी तथा जयराम स्वामी, नरसिंह सरस्वती तथा रंगनाथ स्वामी, चोखामेला तथा दो कुम्भकार, नरहरि सोनार तथा सावतिया माली, बहिराम भट्ट तथा गणेश नाथ, जनार्दन पंत तथा माधो पंत, और न जाने कितने और जिनके नाम लिए जा सकते हैं — यह सचमुच ही एक ऐसी बड़ी सूची है जिससे महाराष्ट्र में इस आन्दोलन की प्रभावोत्पादकता का पता चलता है। इस क्षेत्र के अधिकतर संत तथा पैगम्बर ब्राह्मण थे, जबकि भारत के दूसरे हिस्सों में क्षत्रिय तथा वैश्य अधिक और ब्राह्मण कम थे।

लोगों की प्रवृत्ति संतों एवं पैगम्बरों के जीवन को हमेशा आश्चर्यजनक एवं चमत्कारिक शक्तियों से जोड़कर देखने की रही है। उनका विश्वास रहा है कि वे मृत को जीवित तथा बीमार को स्वस्थ बना सकते हैं और भूखों को खिला सकते हैं। आज के तर्कपूर्ण युग में यह भी शायद मान्य न हो कि वे मानव मात्र के प्रति अपने प्रेम के उद्देश्य की पूर्ति अति प्राकृतिक शक्तियों के सहारे करते हैं। श्री लेकी का कथन है कि बच्चों जैसे भोलेपन के कारण ही लोग संतों के इन चमत्कारपूर्ण करिश्मों को रोज की मामूली घटनाएं समझ बैठते हैं। दैवयोग में आस्था रखने वाले लोग कमजोर एवं दुखी होते हैं। उनकी आस्था का असर आश्चर्यजनक परिणाम भी होता है, और बहुधा वे स्वयं भी चमत्कृत होते हैं कि आखिर यह कैसे हुआ। बहरहाल, संतों की इन जीवनियों का नैतिक महत्व इसलिए नहीं कि वे चमत्कारपूर्ण हैं बल्कि इसलिए है कि वे जीवन के साथ संघर्ष की कहानियां हैं। वे इस तथ्य की प्रतीक भी है कि नैतिक विधान के चरम सत्य तथा मनुष्य का उच्च आध्यात्मिक जीवन ही हमारे परम लक्ष्य हैं। इस वृतान्त में हमारा सरोकार जीवन के इसी पक्ष से है, और इसमें सन्देह नहीं कि इसमें उनका योगदान अमूल्य तथा अतुलनीय रहा है।

पश्चिमी यूरोप के सुधार आन्दोलन तथा महाराष्ट्र में उसी समय चल रहे इन संतों के जीवन-संघर्ष, उनके उपदेशों तथा उनकी कृतियों के बीच हम एक बड़ी ही रोचक समानता का अनुभव करते हैं। सोलहवीं सदी के यूरोपीय सुधारवादियों के आन्दोलन की एक मुख्य विशेषता यह थी कि उन्होंने पादरियों-पुजारियों को उग्र चुनौती दी जिसका प्रधान था रोम का पोप। पोप तथा पादरियों की यह

शक्ति न जाने कितनी पुरानी परम्परा से चली आ रही थी। रोमन प्रान्तों को तहस-नहस करने वाले पुराने जंगली आक्रामकों को सभ्य मनुष्य बनाकर उन्होंने अतीत में अच्छा काम भी किया था। पर वे धीरे-धीरे मनुष्य के सेवक न होकर मनुष्य के मालिक तथा शासक बन बैठे। उन्होंने अपने अन्दर लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकार की शक्तियाँ समेटलीं और मनुष्य तथा ईश्वर के बीच एक प्रकार के बिचौलिए हो गए। अपने इन विशेषाधिकारों को उन्होंने कई प्रकार के धार्मिक विधि-विधानों से घेर घार कर सुरक्षित भी कर लिया। धीरे-धीरे उनमें कई बुराइयाँ भी आ गईं और उनके प्रति लोगों की भावना खराब हो गई। जिस समय लूथर ने इनके खिलाफ बगावत की थी उस समय इनकी ज्यादतियाँ हद से बढ़ गई थी। उन्होंने 'क्षमादान' करना शुरू कर दिया था और 'पीटर पेंस' नामक कर लगाया था। इस प्रकार एकत्र की गई राशि से उन धर्माधिकारियों तथा उनके सहायकों के लौकिक अधिकारों का दमन करना शुरू कर दिया जिन्हें वे चालबाज अथवा भ्रष्ट समझते थे। पश्चिमी भारत का सुधारान्दोलन भी कुछ इसी प्रकार का था। प्राचीन परम्परा तथा सत्ता को खत्म कर दिया गया था। इसके पीछे पण्डितों अथवा पुरोहितों के कोई सांसारिक अधिकार तो नहीं थे, पर वे उच्च वर्गीय ब्राह्मण जरूर थे जो एक प्रकार के एकाधिकारी हो गए थे। जातीय ब्राह्मणों की इसी प्रबलता के विरुद्ध ही आवाज उठाई संतों तथा पैगम्बरों ने। उनका दावा था कि मनुष्य की आत्मा ही सर्वोपरि है और जाति अथवा वर्ग का आधार निरर्थक है। इन कई संतों की अपनी जन्म-कथा से भी यही बात स्वयंसिद्ध-सी हो जाती है। उनमें से आधे ब्राह्मण नहीं थे और कुछ तो अत्यन्त निम्न जाति के थे। कई ब्राह्मण सुधारवादियों का जन्म भी अपवित्र समझा गया था और इसलिए भी उन्होंने कृत्रिम पाबन्दियों के खिलाफ अवाज उठाई थी। ज्ञानदेव, उनके भाई तथा बहन मुक्ताबाई पिता के संसार त्याग कर संन्यासी हो जाने के बाद पैदा हुए थे। उनके आध्यात्मिक गुरु रामानन्द को पता चला कि 'आश्रम' बदलने के पहले ज्ञानदेव ने अपनी पत्नी की सहर्ष सहमति नहीं ली थी, इसलिए उन्होंने उनको आज्ञा दी कि वह घर जाकर अपना गृहस्थ जीवन फिर से शुरू करें। इस प्रकार जो सन्तानें पैदा हुई वे जातीय वितृष्णा के साथ देखी जाने लगी, और जब वे बड़ी हुई तब ब्राह्मणों ने उनकी दीक्षा संस्कार आदि कराने से भी इन्कार कर दिया। ये सभी सन्तानें आजन्म 'अदीक्षित' रहीं, गोकि उन्हें समाज का आदर-सम्मान मिलता रहा। एक दूसरे संत मालोपंत का विवाह एक निम्न जाति की कन्या से हुआ था। उसकी जाति का पता विवाहोपरान्त चला। किन्तु मालोपंत ने उसे छोड़ा नहीं, सिर्फ वैवाहिक समागम से दूर रहे। उसकी मृत्यु के बाद जब उन्होंने उसकी अन्त्येष्टि की तब एक चमत्कार हुआ जिससे उनके बुरे से बुरे शत्रु भी शान्त हो गए और मालोपंत तथा उनकी निम्न जाति की उस पत्नी को दैवी प्रताप के कारण पवित्र मानने लगे। इसी प्रकार जयराम स्वामी के मालिक कृष्णदास ने एक नाई की लड़की से शादी की, और उसकी जाति का पता भी विवाह के

बाद ही चला। पर उनके पवित्र जीवन का यह प्रताप था और तब तक वह काफी अत्याचार भी सह चुके थे—कि बाद में उस समय के शंकराचार्य ने भी कोई आपत्ति नहीं की। यह तो सर्वविदित ही है कि जातिभेद को एकनाथ ने भी कोई महत्व नहीं दिया था। उन्होंने एक भूखे 'महार' (चमार) को अपने घर बुलाकर खाना खिलाया था और जब उनको जाति से बाहर कर दिया गया तब उन्होंने जाति वालों को अपने को नदी के किनारे एक बार फिर से सुसंस्कृत करने के लिए ले जाने दिया। संयोग की बात कि उसी समय एक चमत्कार हो गया जिससे यह साबित हो गया कि एक भूखे 'महार' को खिलाना कई सौ ब्राह्मणों को खिलाने से अधिक उपकारपूर्ण है, क्योंकि जो काम सौ ब्राह्मणों को खिलाने से भी नहीं हुआ वह एक 'महार' को भोजन देकर हो गया—अर्थात् एक कोढ़ी रोग-मुक्त हो गया। कहा जाता है कि बहुत से संत, खासकर ज्ञानदेव, एकनाथ तथा नागनाथ, एक सामान्य चमत्कार यह दिखाते थे कि जब कोई ब्राह्मण किसी के जाति प्रथा के तोड़ने के कारण उसका श्राद्ध-संस्कार करने से इन्कार करता था तब उन धृष्ट ब्राह्मणों के पुरखों को धरती पर बुला लिया जाता था और वे धरती पर उतर कर अपने उन ब्राह्मण पुत्रों को लज्जित करते थे। नामदेव की जीवनी में इस बात का उल्लेख है कि पंढरपुर के उनके उपास्यदेव ने उन्हें ब्राह्मणों को बुला कर दावत देने की अनुमति दी थी, किन्तु जब विट्ठलजी ने स्वयं ब्राह्मणों की पंक्ति में न बैठकर संतों के साथ खाना खाया तो उन्हें जाति बाहर कर दिया गया और तब स्वयं ज्ञानदेव अपने आत्मा-रूप में प्रकट हुए और उन्होंने ब्राह्मणों की भर्त्सना की।

उन्होंने कहा—"परमात्मा के सामने न कोई नीचा था और न कोई ऊंचा। सब बराबर थे। ऐसा कभी न सोचो कि तुम उच्च जाति के हो और तुम्हारा पड़ोसी नीच है। निम्न जातियों के स्पर्श से कभी गंगा अपवित्र नहीं होती, उनकी सांस से कभी वायु दूषित नहीं होती और धरती पर उनके वास के कारण धरती भी अस्पृश्य नहीं हो जाती"।

एक अत्यन्त मार्मिक घटना उस समय घटी जब एक अछूत 'महार' चोखामेला को इसलिए सताया गया कि वह पंढरपुर के मन्दिर में घुस गया था। उसके दुस्साहस के लिए जब उसे बुरा भला कहा जा रहा था तब उसने कहा कि मुझे मेरा ईश्वर खुद जबरन अन्दर ले गया, मैं अपने आप नहीं गया। मन्दिर के ब्राह्मण पुजारियों से उसने कहा—"यदि भक्ति अथवा आस्था ही न हो तो उच्च कुल में पैदा होने अथवा पढ़ लिख कर पण्डित हो जाने से फायदा ही क्या? निम्न जाति का होते हुए भी यदि व्यक्ति आस्थावान और ईश्वर को चाहता हो, सभी प्राणियों को अपने समान समझता हो, अपनी और दूसरों की सन्तानों के बीच कोई भेदभाव न रखता हो और सच बोलता हो तो उसकी जाति पवित्र है और भगवान उससे खुश रहता है। जिस आदमी के

हृदय मे आदमी के प्रति प्यार तथा ईश्वर के प्रति आस्था हो उस आदमी से कभी उसकी
जाति न पूछिए । ईश्वर चाहता है कि मनुष्य के अन्दर प्रेम तथा भक्ति हो और उसे उस
की जाति से कोई मतलब नही।" पर इन उच्चोपदेशों से ब्राह्मणों मे कोई अंतर नही आया
और उन्होंने वहा के मुसलमान अधिकारियो से शिकायत की । उसने, मानो वह बाइबिल
की कहानी का दूसरा पायलट हो, हुक्म दिया कि चोखामेला को बैलो के साथ बांध
कर खिचवाया जाए और क्रूरता के साथ मार डाला जाए । पर ईश्वर ने अपने भक्त
की रक्षा की । बैल अपनी जगह पर अड़े रहे और अत्याचारी चकित था कि यह क्या
हो रहा है । इस प्रसंग मे वहीराम भट की कहानी भी रोचक है । वह शास्त्री था और
ब्राह्मणो में उनके लिए कोई जगह नही थी । इसलिए यह सोचकर वह मुसलमान
हो गया कि उनके एकेश्वरवाद से उनके मान को शान्ति मिलेगी । पर वहा उसे शान्ति
नही मिली और वह फिर ब्राह्मण हो गया । उसके बार-बार धर्म परिवर्तन से ब्राह्मण
और मुसलमान दोनो क्षुब्ध हुए । फिर उसने यह दावा किया कि वह न तो हिन्दू है
और न मुसलमान । उसने ब्राह्मणो को चुनौती दी कि जब तक उसके शरीर पर खतने का
निशान है तब तक वे उसे सच्चा ब्राह्मण नही बना सकते । इसी प्रकार उसने मुसलमानों
को भी चुनौती दी कि जब तक उसके कानो में कर्णवेध सस्कार मे किए गए छेदों की
निशानी है तब तक वह मुसलमान कैसे ? शेख मुहम्मद के अनुयायियो की तरह हिन्दू
हो गए मुसलमान आज भी रमजान का रोजा और एकादशी का व्रत रखते हैं और
मक्का तथा पंढरपुर दोनों की तीर्थयात्रा पर जाते हैं । कबीर, नानक तथा माणिक प्रभु
जैसे न जाने कितने और भी संत है जिन पर हिन्दू तथा मुसलमान दोनो का दावा रहता
है, और दोनों उनकी उपासना करते हैं । ये कुछ उदाहरण यह साबित करने को काफी
ह कि इन महानुभावों ने इस राष्ट्रीय दृष्टिकोण को काफी बल दिया कि मनुष्य
की प्रकृति उसकी आत्मा से बनती है और जातीय असहिष्णुता के जुए को उतार
फेंकना चाहिए ।

इन गरिमामयी बातो का एक प्रभाव तो यह हुआ कि धर्म के क्षेत्र में
जातीय अवर्जना समाप्त हो गई और वह सामाजिक मामलों तक ही सीमित
रही । फिर धीरे-धीरे वहां भी उनका कट्टरपन कम होता गया और एक प्रकार का
लचीलापन आ गया । दक्षिणी भारत के कट्टर ब्राह्मणों की तुलना जरा
महाराष्ट्र के दक्कन क्षेत्र के ब्राह्मणों से कीजिए । साबित हो जाएगा कि जहा दक्कन के
ब्राह्मण इन बातो को कोई महत्व नही देते, वही दक्षिण के ब्राह्मण अपनी गली में एक
शूद्र की छाया भी सहन नही कर सकते । दक्कन के ब्राह्मणो की यह तटस्थता की प्रवृत्ति
सालाना उत्सवों के अवसरों पर और भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगती है और
के अन्तिम दिन दैवी भोज में लोगों का मिला जुला अभिवादन भी सुनने को
है । जिस प्रकार यूरोप में ईश्वर तथा मनुष्य के बीच मिलन के अनिवार्य

रूप में पादरी की जरूरत नहीं रह गई, उसी प्रकार भारत के इन प्रदेशों में मुक्ति के लिए ब्राह्मण को भी अनावश्यक समझा गया। लोगों का यह विश्वास भी टूट गया कि ब्राह्मण विधाता की एक विशेष रचना है और दूसरी जाति के लोगों को उसकी सेवा-पूजा करनी चाहिए। स्त्री तथा पुरुष, उच्च तथा निम्न, सभी यह समझने लगे कि उनकी उत्पत्ति चाहे जिस जाति में भी हुई हो, उनको मोक्ष की प्राप्ति प्रेम तथा भक्ति के मार्ग से ही हो सकती है

यूरोपीय सुधारवादियों ने मठीय व्यवस्था के खिलाफ और भी अधिक आवाज उठाई। उन्होंने याजकों के ब्रह्मचर्य तथा स्त्रियों के गृहस्थ जीवन से अस्वाभाविक संन्यास लेकर मठवासिनी हो जाने की परम्परा का भी विरोध किया। इसी प्रकार हमारे देश के संतों तथा पैगम्बरों ने भी व्रत, आत्मदमन, निरर्थक तपस्याओं तथा कभी खत्म न होने वाली तीर्थयात्राओं का प्रतिवाद किया। उसी भावना से उन्होंने योग में विश्वास रखने वालों को कठोर संयमशीलता को भी नकारा। योगियों का विश्वास था कि संयम-नियम से आश्चर्यजनक शक्तियों की उपलब्धि होती थी। योग एवं भक्ति के बीच इस द्वन्द्व के प्रतीक हैं चांगदेव एवं ज्ञानदेव के बीच हुए मुकाबले। चांगदेव का विश्वास योग की शक्तियों में था। वे चीतों को पीठ पर चढ़ कर उन्हें सर्पों के चाबुक से मारते थे। उनको लज्जित करने के लिए ज्ञानदेव चीते की पीठ की जगह एक दीवार पर चढ़े। इसी प्रकार एक मुकाबला ज्ञानदेव तथा नामदेव के बीच भी हुआ। ज्ञानदेव ने योग की शक्ति से अपने कद को छोटा कर लिया, फिर भी एक गहरे कुएं का पानी पीने में समर्थ हुए। नामदेव का विश्वास योग में न होकर भक्ति में था। उन्होंने कुएं को मीठे जल से लबालब भर दिया ताकि जो प्यासे जन उधर से गुजरें वे उसके ठंडे पानी को पीकर अपनी प्यास बुझाएं। इन कहानियों में महाराष्ट्र के संतों तथा पैगम्बरों के उपदेशों की विशेषताएं बड़े ही सुन्दर ढंग से बताई गई हैं।

कनोबा पाठक बच्चों को बहुत प्यार करते थे। इसके लिए बनारस के एक ब्राह्मण ने उनकी बड़ी भर्त्सना की। इस पर उन्होंने अपने प्रिय शिशु को उठाकर एक कुएं में फेंक दिया। उनका तात्पर्य इसका प्रमाण प्रस्तुत करना था कि ब्रह्मचर्य की शपथ ले लेने से ही मन की शान्ति तथा दुख और सुख के प्रति निर्विकार भाव की उत्पत्ति नहीं होती। एकनाथ जीवन पर्यन्त अपने परिवार के साथ रहे। तुकाराम तथा नामदेव ने भी ऐसा ही किया। यह और बात है कि उन्हें नारी-सुलभ सहानुभूति की प्राप्ति नहीं हुई। चोखमेला, बोधले बाबा, दामाजीपंत, भानुदास दो कुम्हार और न जाने कितने और संत अपने-अपने परिवार के साथ ही रहते थे। ज्ञानदेव के पिता अपनी पत्नी की सहर्ष सहमति लिए बिना ही संन्यासी हो गए तो रामानन्द [illegible] कर गृहस्थ जीवन बिताने को कहा। इन घटनाओं से प्रमाणित होता है

कि इन संतों तथा पैगम्बरों ने पारिवारिक जीवन की पवित्रता को बड़ा महत्व दे रखा था। उन्होंने लोगों के संघर्षों से तंग आकर संसार छोड़ देने की दुर्बलता को भी दूर करने का प्रयास किया। इस सन्दर्भ में नारी संतों का जीवन और भी अधिक रोचक है। जीवनियों में लिखा है कि उनके प्रेम तथा भक्ति से प्रेरित होकर स्वयं ईश्वर उनके घरेलू कामों में उनकी मदद कर उनकी कठिनाइयों को दूर करता था। वह उनके सामने विभिन्न रूपों में उपस्थित होकर उन्हें अपनी सेवा का अवसर देता था ताकि उनके ईर्ष्यालु सम्बन्धियों को कोई भ्रांति न हो। इन कहानियों से यह गलतफहमी हो सकती है कि ईश्वर कितना सस्ता था जो छोटी-छोटी बातों में भी दखल देता था। हमें वास्तव में उनके उच्च नैतिक पहलू को ही ध्यान में रखना चाहिए। इन संतों ने वैवाहिक जीवन की पवित्रता तथा गरिमा को न्यायसंगत ठहराया। संन्यासियों के तापसी जीवन की पुरानी परम्परा पर यही उनकी विशिष्ट विजय थी।

आधुनिक यूरोपीय इतिहास के सभी पाठकों को विदित है कि यूरोपीय सुधारवाद की सबसे स्थायी सफलता इस बात में थी कि उसने राष्ट्रीय बौद्धिकता को रूढ़िवादी शास्त्रीयता के बन्धन से मुक्त कराया। उसी ने उस शास्त्रीय लैटिन की दुखदायी पूर्व-प्रधानता से भी मुक्ति दिलवाई जिसमें उस समय तक सभी अच्छी पुस्तकों की रचना होती रही थी। इन सुधारवादियों की मदद से सबसे पहले बाइबिल को उच्च और नीच सब के लिए सुलभ किया गया। ज्ञान के मन्दिर पर पादरियों के एकाधिकार को भी जड़ तक हिला दिया गया। सुधार की प्रक्रिया इधर भारत में भी उन्हीं मार्गों पर चल रही थी। प्राचीन संस्कृत के विद्वान यह देखकर चकित थे कि संतों तथा पैगम्बरों ने भी लेखन तथा वचन दोनों से लोगों को उनकी अपनी बोली में सम्बोधित करना शुरू कर दिया है, और विद्वता अथवा ज्ञान का जो कोष अब तक लोगों के लिए बंद था वह स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण तथा शूद्र सभी के लिए समान रूप से खोल दिया गया है। किन्तु अन्तिम विजय कठिन संघर्ष एवं तप के बिना नहीं मिली। वर्जित क्षेत्र में सबसे पहले प्रवेश किया ज्ञानदेव ने, फिर उनका अनुसरण किया एकनाथ तथा रामदास, नामदेव तथा तुकाराम, वामन पण्डित तथा मुक्तेश्वर, और श्रीधर तथा मोरोपंत ने। इनमें आखिर के चार संत कवि तथा ग्रन्थकार रूप में अधिक, धर्मोपदेशक रूप में कम जाने जाते थे। फिर भी उनका प्रेरणा-स्रोत वही था जो धर्मोपदेशकों का। सही है कि वेदों और शास्त्रों का अनुवाद नहीं किया गया, जैसा कि बाइबिल का किया गया था। इसका एक खास कारण था। शुरू-शुरू में इन मराठी लेखकों को पता था कि आधुनिक भारत पर बौद्ध क्रान्ति के बाद जितना गहरा असर रामायण, महाभारत, भागवत् पुराण तथा गीता का था उतना वेदों और शास्त्रों का नहीं। इसीलिए इन्हीं ग्रन्थों का अनुवाद कर उन्हें सबके लिए सुलभ कराया गया। इस क्षेत्र में सबसे अग्रणी कार्य किया

एकनाथ तथा तुकाराम ने। पर फिर उन्ही दोनों को ब्राह्मणों का विरोध सबसे पहले झेलना पड़ा। उनकी रचनाओं को जलाया तो नही गया, जैसा यूरोप में हुआ था पर उन्हें पानी में फेंक दिया गया। किंवदन्ती है कि जलदेवता ने उन्हें नष्ट होने से बचा लिया। वें न गीली हुई और न पानी में डूबीं, इसलिए पहले से भी अधिक ख्यात हो गईं। संस्कृत के एक विद्वान थे वामन पण्डित। वह जन साधारण की बोली को न तो बोलते थे और न उसमें लिखते थे। वह समझते थे कि वह बोली पण्डितों के योग्य नही। उन्हें अपनी गलती का पता तब चला जब उन्हें रामदास के सम्पर्क में लाया गया। रामायण के एक दूसरे अनुवादक थे सत्य रमाल। उन्हें अपने श्रेष्ठ ज्ञान पर बड़ा गर्व था। उनको भी इसी तरह लज्जित होना पड़ा। उनको देवी ने सन्देश भेजा कि वह अपने अनुवाद को नामदेव दर्जी को दिखाकर ठीक करा लें। कहा जाता है कि एक चमत्कार ज्ञानदेव ने भी किया, जिसके अनुसार एक भैंस ने वेदों को याद कर उसका पाठ किया। इस कहानी में उन लोगों का मज़ाक उड़ाया गया था जिनको वेदों का पाठ कर सकने की अपनी क्षमता पर महान गर्व था, गोकि वे उनका अर्थ समझने में सक्षम नही थे।

इस प्रकार संस्कृत के शास्त्रीय पण्डितों तथा जनभाषा में लिखने-बोलने वालों के बीच पुराने विवाद का फैसला, जिसके बारे में आज हम इतना कुछ सुनते हैं, लोगों की अपनी बोली जनभाषा, में लिखने वालो के हक में होता है। पुरावेत्ता तथा अन्य विद्वान जन इसके विरुद्ध चाहे जो भी कहें, सवाल का जवाब सिर्फ एक ही है—वही जवाब जो संतों तथा पैगम्बरों ने दिया, जब उन्होंने संस्कृत को अपने लिए एक बेकार भाषा समझ कर अलग कर दिया और अपनी मातृभाषा के विकास तथा सुधार में अपनी सारी शक्ति लगाई। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत में आधुनिक भाषाओं के विकास का एकमात्र श्रेय इन्ही संतों तथा पैगम्बरों को है। प्रान्तों में भी, जहा भाषा सुधार की प्रवृत्ति काफी आगे बढ़ी हुई थी, देशी भाषा में रचित साहित्य का काफी स्वस्थ विकास हुआ।

यूरोप के प्रोटेस्टेंट सुधारकों ने एक क्षेत्र में एक और विशेष परिवर्तन प्रस्तुत किया। रोमन कैथोलिक चर्चों की मूर्ति-पूजा तथा संत-पूजा की बहुलता के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई। इधर भारत में भी काफी प्रतिवाद हुआ पर यहा प्रोटेस्टेंट सुधारकों का अतिवादी मूर्ति-भंजक रूप नहीं प्रकट हुआ। महाराष्ट्र के संतों तथा पैगम्बरों ने सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों में बहुदेववादी पूजा-पद्धति की भर्त्सना की। उन सब का, देवी अवतार का अपना-अपना एक प्रिय स्वरूप था, वे उसी की पूजा करते थे और उनके धर्म में किसी अन्य देव की उपासना के लिए कोई स्थान नहीं था। उदाहरणार्थ रामदास के आराध्य थे राम; एकनाथ तथा जयराम के ईश-रूप में कृष्ण; तुकाराम, चोखामेला तथा नामदेव के उपास्य थे विठोबा;

नरहरि सोनार तथा नागनाथ के इष्टदेव थे शिव; जनार्दन स्वामी तथा नरसिंह सरस्वती दत्तात्रेय की पूजा करते थे; मोरया गोसावी तथा गणेशनाथ गणपति की मूर्ति पूजते और इसी प्रकार अन्य संत भी अपने-अपने देवता को मानते थे। अजीब कहानियां कही गई हैं इन जीवनियों में। कहा जाता है कि जब वे दूसरे देवालयों में जाते थे तो अन्य देव के दर्शन से इन्कार कर देते थे। अतः अन्य देवों को उन्हीं के देवों का रूप धारण करना पड़ता था। एक ही ईश्वर है, वह सर्वोपरि है, और कोई दूसरा ईश्वर नहीं है—यही इन संतों के मत का मूल मंत्र था। इसको कोई चुनौती दे, कोई प्रश्नचिह्न लगाए, यह उनको बर्दाश्त न था। साथ ही, जैसे कि ऊपर कहा गया है, इस देश की पूजा-विधा में मूर्ति-भंजन की प्रवृत्ति कभी नहीं रही और सभी यही विश्वास करते थे कि देवताओं के ये सभी रूप एक परम-ईश, ब्रह्म में एकाकार हो जाते हैं। हमारे राष्ट्रीय मन का यह गुण बड़ा पुराना है। वैदिक काल में भी इन्द्र, वरुण मारुत, रुद्र जिनके लिए अलग-अलग आहुतियां दी जाती थी—इन सब के लिए विश्वास था कि इनके रूप सृष्टि के रचयिता विधाता के ही विभिन्न रूप थे। इसी से स्पष्ट होता है कि हमारे संत तथा पैगम्बर मूर्ति-पूजा के प्रश्न के प्रति अपेक्षाकृत इतने तटस्थ क्यों थे। इसलिए हेय नजर से यह कहना कि ये सभी प्रतिभावान जन बुतपरस्ती के शिकार थे, इनके विचारों एवं सिद्धांतों को गलत समझने के बराबर है। वे कभी काठ या पत्थर के पुजारी नहीं रहे। विश्वास किया जाता है कि वैदिक काल में मूर्ति-पूजा का चलन था ही नहीं। मूर्ति-पूजा की उत्पत्ति होती है अवतार-सिद्धांत की मान्यता के साथ और इसे बढ़ावा मिलता है जैनियों तथा बौद्धों द्वारा, क्योंकि वे अपने देवों की पूजा-मूर्ति बनाकर करते थे। बाद में यह प्रवृत्ति जन-जातियों के जड़-पूजा परम्परा से घुलमिल गई। वे जनजातियां आर्यों में शामिल हो गई औ उनके देवताओं को भी आर्यों का देवता मान लिया गया। पर महाराष्ट्र के संत तथ पैगम्बर, लोगों में प्रचलित इन पूजा-परम्पराओं से ऊपर उठे। देवताओं के मूर्ति की पूजा का बहिष्कार किया गया, और एकमात्र परमात्मा की मूर्ति को ही पूज्य माना गया। तुकाराम तथा रामदास दोनों ने जनजातियों तथा ग्राम देवताओं की खुले शब्दों में निन्दा की। उनकी भयानक बलि-प्रथा तथा धार्मिक रीतियों की भी कटु आलोचना की। भानुदास की जीवनी में लिखा है कि उन्होंने विजयनगर के राजा से कह दिया कि वह जिस देवी की पूजा करते हैं वह पंढर पुर के भगवान के यहां झाड़ू लगाने का काम करती है। बाद में राजा जब पंढरपुर गए तब बात सच देखी। दो अन्य संतों की जीवनियों में इसका उल्लेख है कि देवी काली को मनुष्य तथा पशु की बलि चढ़ाई जाती थी, पर जब संतों ने हरि के नाम पर इस क्रूर प्रथा का विरोध किया तब काली डर गई और आज्ञा दी कि बलि प्रथा को हमेशा के लिए खत्म कर दिया जाए। इन उदाहरणों पता चलता है कि ये संत मूर्ति-पूजन को कितना कम महत्व देते थे

ईश्वर के प्रति सच्ची भक्ति में इसका कोई स्थान न समझते थे । जब तक हम इस मूल बात को नहीं समझेंगे तब तक इस विषय पर इन उपदेशकों की सही स्थिति को नहीं समझ सकते ।

महाराष्ट्र के ये सुधारवादी संत तथा पैगम्बर उसी समय यूरोप में इसी लक्ष्य के लिए कार्य कर रहे प्रोटेस्टेंट सुधारवादियों से एक और दृष्टि से मूलतः भिन्न थे। वैदिक काल के शुरू से ही आर्यों के देवता प्रेम, उल्लास, ज्योति तथा माधुर्य के देवता रहे हैं। वरुण तथा रुद्र जैसे रौद्र देवताओं का भी अस्तित्व रहा है जो लोगों के मन में भय तथा विस्मय की भावना भरते थे। पर राष्ट्र की प्रकृति रही है ईश्वर के प्रेम-पक्ष को ही अपना कर उसके दीप्तिमय पक्ष की आराधना करना। 'सेमिटिक' अथवा 'सामी' विचारधारा में ईश्वर के भयावह रूप को महत्व दिया जाता था। ईश्वर के उस रूप का वैभव बादलों के माध्यम से ही देखा जा सकता था। ऐसे ईश्वर के विधान में मनुष्य को उसकी दुर्बलताओं के लिए कठिन से कठिन दण्ड देना था, दण्डित अधिक और पुरस्कृत कम करना तथा पुरस्कार देते हुए भी उसे भय से कांपते हुए रखना था। सामी धर्मों के मूल में यही भावना थी पर ईसाई धर्म में ऐसा नहीं था। उस धर्म में ईश्वर जीसस क्राइस्ट के रूप में सशरीर प्रस्तुत होकर मनुष्य द्वारा किए गए अपराधों के लिए खुद दण्ड भुगतता है और प्रायश्चित करता है। मिस्र, रोम अथवा हिन्दुस्तान के आर्यों के धर्म में इस प्रकार के अवतार की परिकल्पना नहीं थी। हम ईश्वर को सदा पिता अथवा माता के रूप में स्वीकारते रहे हैं। हम उसे भाई एवं दोस्त भी मानते रहे हैं; न्यायाधीश अथवा दण्ड देने वाला अथवा शासक कभी नहीं। अपने किए पर पछताकर घर लौट आने वाले बेटे के लिए उसके हृदय में हमेशा माता-पिता का प्यार रहा है। वह उसे अपने आलिंगन में वापस ले लेने को हमेशा तैयार रहा है। ईश्वर के इस दयालु रूप के गुणों की ब्राह्मणों द्वारा की गई रूढ़िवादी व्याख्या में नहीं दिखलाया गया है। उसकी यह विशेषता तो संतों तथा पैगम्बरों के जीवन के अनुभवों के माध्यम से ही उभर कर हमारे सामने प्रगट हुई है। वे बड़े विश्वास के साथ यह सकते थे कि वे अपने ईश्वर को साक्षात् देख सकते हैं, उसके शब्दों को सुन सकते हैं, उसके साथ चल सकते हैं, उससे बातें कर सकते हैं और उसके साथ विचारों का आदान-प्रदान भी कर सकते हैं। किन्तु कभी-कभी जब वे अपनी सर्वोच्च गरिमा के क्षणों में होते तब निस्सन्देह उसको एक ऐसी शक्ति मानते जो बोलती नहीं पर जिसकी उपस्थिति मस्तिष्क की सहज स्थिति में उसी प्रकार महसूस की जा सकती थी जिस प्रकार आंखों से देखी जाने वाली वस्तुओं की। योगी तथा वेदान्ती अपने दिवास्वप्नों में ईश्वर के साथ बातचीत करते थे और उसी में एकाकार हो जाते थे। किन्तु नामदेव, एकनाथ तथा ज्ञानदेव आदि ईश्वर के साथ इस कठिन तथा दूर के मिलाप

से सन्तुष्ट नहीं थे। उनका विश्वास था कि अपना नित्य का काम सुचारू रूप से करना ही ईश्वर से मिलना है और यह कार्य योगियों तथा वेदान्तियों की सीमा से परे है। इन संतों ने जो अद्भुत चमत्कार दिखाए उनमें हमें विश्वास हो या न हो, किन्तु हम उनके इस जीवन-दर्शन से असहमत नहीं हो सकते।

ईसाई देशों में जीसस क्राइस्ट के जीवन तथा मरण को लेकर प्यार की जिस भावना को उजागर किया गया है, वही भावना इन संतों के माध्यम से भारत में इस विश्वास के माध्यम से उभरती है कि परमात्मा हर क्षण हमारे साथ, हमारे हृदय में है और हम उसे आंखों से देख सकते हैं, कानों से सुन सकते हैं और हाथों से महसूस कर सकते हैं। यही बड़प्पन था हमारे संतों का, और यही वह खजाना था सदुपदेशों का जिसे वे उच्च तथा नीच, स्त्री तथा पुरुष सभी के समान उपयोग के लिए एक बहुमूल्य सान्त्वना स्रोत के रूप में छोड़ गए।

ईश्वर के साथ मनुष्य के सम्बन्ध के प्रति इस धारणा के परिणामस्वरूप, भक्ति भावना की परम उपयोगिता सिद्ध होती है। इन वैष्णव मतावलम्बियों की दृष्टि में यही वह सर्वोच्च धर्मसार है जो ईश्वर से मिलन कराता है। महीपति द्वारा लिखित इन जीवनियों में कोई एक भी जीवन ऐसा नहीं जिसमें 'भक्ति' अथवा 'भाव' को पूजा की अन्य विधियों से बढ़ कर न बताया गया हो। धर्म की सभी बाहरी औपचारिकताएं, विधियां, तीर्थ यात्राएं, स्नान अथवा ध्यान, व्रत, आत्म-पीड़न तथा ज्ञान आदि कुछ भी तो 'भक्ति' अथवा 'भाव' से बढ़कर नहीं। इनका सम्बन्ध सिर्फ शरीर तथा मन से है, जबकि ईश्वर चाहता है कि उसकी सेवा 'आत्मा' से की जाए। धार्मिक औपचारिकताएं, तथा व्रत आदि धर्म में बस उतना ही महत्व रखते हैं जितना शरीर में भूख तथा प्यास, जिनको मिटाना आवश्यक है, अथवा आराम तथा नींद जो स्वाभाविक प्रक्रिया में आती है और उनके लिए किसी कठिन श्रम की आवश्यकता नहीं होती। सबसे बड़ा स्नान है अपनी इन्द्रियों को ईश्वर की उपस्थिति रूपी महासागर में पूरी तरह से सराबोर कर देना, अन्दर और बाहर अंग-अंग से। सबसे बड़ा बलिदान और सर्वोच्च दान है अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर देना ईश्वर की इच्छा के प्रति, और उसकी सेवा में, और बदले में कुछ भी नहीं मांगना। सबसे बड़ा आत्मतप दीनता है और सबसे बड़ा ध्यान है पूरी लगन के साथ उसका कीर्तन करना। ज्ञान अथवा योग-शक्ति, धन अथवा स्वास्थ्य संतान अथवा सम्पत्ति और जीवन तथा मरण से मुक्ति भी अपने आप में कोई विशेष उपलब्धि नहीं। सबसे जरूरी चीज है ईश्वर और उसकी सृष्टि, उसकी रचना, जिसमें मनुष्य तथा पशु सभी हैं, के प्रति सतत प्रेम का भाव। एक पेड़ से छाल निकालते हुए नामदेव की आंखों में आंसू आ गए। उनको लगा जैसे छाल के अन्दर से रक्त निकल रहा हो। पेड़ को कैसा लगता है, यह अनुभव करने के लिए उन्होंने स्वयं अपने

उपर भी कुल्हाड़ी चलाई। शेख मुहम्मद के पिता ने उनसे कसाई का काम करने को कहा। उन्होंने यह जानने के लिए कि पशु को कैसा लगेगा, पहले अपनी उंगली काटी। उनको इतना दर्द हुआ कि उन्होंने अपना धंधा छोड़ दिया और उस दुनिया से भी विरक्त हो गए जहां रोटी कमाने के लिए लोगों को इतना सताना पड़ता है। तुकाराम ने भी अनुभव किया कि उनके अन्दर जरूर कोई कमी होगी। तभी तो जिस खेत की रखवाली के लिए वह भेजे गए थे, उस खेत की चिड़िया उन्हें देखते ही उड़ जाती थी, यद्यपि वह उन्हें कोई भी कष्ट नहीं पहुंचाते। इस गहन आध्यात्मिकता और सम्पूर्ण आत्मसमर्पण की बात ऐसे लोगों को असत्य जान पड़ेगी जो उस वातावरण में नहीं थे। पर इसमें शक नहीं कि ऐसा होता था, और इसमें भी कोई शक नहीं कि इन्हीं संतों ने आध्यात्मिक श्रेष्ठता को राष्ट्रीय भावना को भी रूप दिया। यह और बात है कि आज हमें और भी अधिक सहनशील होने की जरूरत है। पर दो सौ वर्ष पूर्व के संतों तथा पैगम्बरों के जीवन-वृत्तान्त को हम आज की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं के आईने में तो नहीं देख सकते।

यह जानना रोचक हो सकता है कि ये संत कैसे बोलते अथवा सोचते थे, और जब मुसलमानों के धर्म जैसे विरोधी धर्मों से टकराते थे तो वे कैसे उसका सामना करते और समस्या का समाधान निकालते थे। नामदेव, रामदास, एकनाथ आदि के जीवन ऐसी घटनाओं से भरे पड़े हैं। सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि अनेक मुसलमान हिन्दू हो गए और उनको इतनी मान्यता मिली कि हिन्दू लेखक भी उनकी सलाह लेते। ऐसे दो संत थे कबीर तथा शेख मुहम्मद। दूसरी ओर तुकाराम तथा एकनाथ जैसे संत थे। वे मुसलमानों से इतने प्रभावित थे कि उर्दू में कविता लिखने और उनमें विचारों की इतनी उन्मुक्तता होती कि उन पर कठिन से कठिन मुसलमान भी कोई आपत्ति नहीं करता। रामदास का एक शिष्य उद्धव जब बीदर में संकट में पड़ गया तब उन्होंने ऐसा ही किया। बीदर राजाओं के एक सेवक दामाजी पंत की कहानी सब जानते हैं। अकाल पड़ा तो उसने सरकारी भण्डार का सारा अनाज गरीबों में बांट दिया। उन्हें दण्डित किया गया तो न जाने किसने सरकार के खजाने में अनाज की पूरी कीमत भिजवा दी। विदेशी शासकों के साथ संघर्ष में भी ये संत खरे उतरे। वे न तो लड़े और न अपने को बचाने की कोशिश की; बस चुपचाप ईश्वर की शरण में समर्पित हो गए। इन दोनों जातियों में सुलह की एक समान प्रवृत्ति यह थी कि दोनों 'अल्लाह' और 'राम' को मूलतः एक ही मानते थे। शिवाजी के उदय तक यह प्रवृत्ति काफी जड़ जमा चुकी थी। यह और बात है कि उस समय भी मुसलमानों की हठधर्मी कभी-कभी उभर पड़ती थी।

इस प्रकार हमने इस धार्मिक आन्दोलन के विशेष गुणों की विवेचना कर ली। यह आन्दोलन पंद्रहवीं सदी में ज्ञानदेव से लेकर उन्नीसवीं सदी तक चला था। इस

पूरी अवधि में आध्यात्मिक गुणों का ही विकास हुआ। इस आन्दोलन से देश को अपनी भाषा में एक ऐसा साहित्य पैदा हुआ जिसका बड़ा महत्व है। इससे जातीय भावना की पुरानी कट्टरता भी कम हुई। इससे शूद्रों को भी आध्यात्मिक शक्ति का सुख मिला और उनकी सामाजिक स्थिति ब्राह्मणों के करीब-करीब बराबर हो गई। इससे पारिवारिक सम्बन्धों को भी एक प्रकार की पवित्रता प्राप्त हुई और समाज में महिलाओं का स्थान ऊंचा हुआ। इसी से देश में मानवता की भावना को भी वृद्धि का अवसर मिला और हम एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का भाव रखने लगे। मुसलमानों के साथ सुलह तथा मैत्री के रास्ते भी इसी आन्दोलन के माध्यम से खुले। इसी से धर्म में प्रेम तथा भक्ति का महत्व बढ़ा और औपचारिक कर्मों, व्रत-पूजा, तीर्थ-यात्रा तथा ज्ञान-ध्यान का महत्व कम हुआ। बहुदेववादिता भी कम हुई। इन सभी तरीकों से इस आन्दोलन ने विचार तथा कर्म दोनों क्षेत्रों में देश को ऊंचा उठाया। विदेशी शासन की जगह देशी शासन की स्थापना में भी इसी का नेतृत्व तथा योगदान रहा। ये ही महाराष्ट्र के धर्म के विशेष गुण जान पड़ते हैं और ये ही संत रामदास के मन में रहे होंगे जब उन्होंने शिवाजी के बेटे को सलाह दी थी कि वह अपने पिता के बताए हुए मार्ग पर चले और उसी का प्रचार-प्रसार करे। कितना सहिष्णु, कितना उदारवादी, कितना आध्यात्मिक और मूर्ति-भंजन से कितना हटकर चला था यह धार्मिक आन्दोलन।

अध्याय 9

जिंजी

शिवाजी की असामयिक मृत्यु से मराठा इतिहास के सामने जो संकट आया उसकी गम्भीरता को बहुत कम लोगों ने समझा। पहला संकट तो तब आया जब वह बिना किसी शर्त के जयसिंह के सामने हथियार डाल दिल्ली गए और वहां कैद कर लिए गए। यह और बात है कि अपनी प्रतिभा और प्रारब्ध के बल पर वह वहां से निकल भागने में सफल हुए। औरंगजेब भी यह महसूस करने को विवश हुआ कि वह भी कोई हस्ती है, और उनसे या तो सुलह करना होगा, या फिर उनका दमन करना होगा। औरंगजेब की नजर दक्कन पर थी, इस बात को शिवाजी अच्छी तरह समझते थे। इसी लिए उन्होंने अपने जीवन के आखिरी बारह साल इस लक्ष्य की ओर बिताए कि जब उसका हमला हो तो उसका डटकर मुकाबला किया जाए और उसे नाकाम किया जाए। उन्होंने दक्षिण के मुसलमान राजाओं को एक दूसरे को कमजोर कर देने वाले अपने झगड़ों को भूलकर बीजापुर तथा गोलकुण्डा के राजाओं को उनके साथ ऐसी मैत्री करने को बाध्य किया जिससे हमला होने पर अथवा आक्रमण करने की स्थिति में वे उनका साथ दें। इस संधि से इन दोनों राज्यों का भला हुआ क्योंकि जब मुगलों ने उन पर चढ़ाई की तो उन्हें शिवाजी का सहारा मिला जिसके फलस्वरूप वे शिवाजी को कर देने को राजी हुए। लगता है कि उन्हें आने वाली घटनाओं का आभास था; तभी तो उन्होंने किसी को जीत कर और किसी से दोस्ती कर दक्षिण में कावेरी की घाटी में एक नई सुरक्षा-पंक्ति का निर्माण किया। आवश्यकता पड़ने पर वह वहीं जाकर बस जाने की इच्छा भी रखते थे। सह्याद्रि के घाटों और पर्वतमालाओं में बने पहाड़ी गढ़ों की मरम्मत का कार्य चलता रहा। उनके सेनापतियों की देखरेख में उनकी जलसेना सुरक्षा की दूसरी पंक्ति बनी हुई थी। साथ ही उनके पास ऐसे सैनिकों की भी कमी नहीं थी जिन्हें उन्होंने लम्बी अवधि तक प्रशिक्षित किया था और जो उनकी आज्ञा का पालन करने को सदैव तत्पर थे। उन्हें शिवाजी की आकांक्षाओं का पूर्वानुमान तो था ही, उनकी अटूट वफादारी तथा सफलता प्राप्त करने की उनकी क्षमता में भी कोई सन्देह नहीं था। इनके अतिरिक्त अन्य सभी वर्गों के लोगों में भी शिवाजी ने स्वतन्त्रता की भावना भरी थी और उन्हें आत्मबलवान बनाया था। ये ही उनकी शक्ति के मुख्य स्तम्भ थे और उत्तर भारत में इस बात को उनके मित्र तथा शत्रु सभी मानते थे। किन्तु

उनकी असामयिक, अचानक मृत्यु से बड़ी हानि हुई, क्योंकि उन्हें अपना उत्तराधिकारी चुनने के लिए समुचित प्रबन्ध करने का मौका नहीं मिला। उनका सबसे बड़ा बेटा दुराचारी था, उनकी आज्ञाओं का उल्लंघन करता था और मुगल सेनापतियों से जा मिला था। मुगलों की तरफदारी से जब वह वापस लौटा तब उसे पन्हाला में बन्दी बना लिया गया। रायगढ़ के मंत्री जानते थे कि संभाजी अयोग्य थे और उनकी आदतें तथा चरित्र ऐसा नहीं था जो वह शिवाजी के कार्य को आगे बढा सकते। उन्होंने उसे अलग कर देने की युगत की और छोटे पुत्र राजाराम को गद्दी पर बिठाने का यत्न किया। जल्दबाजी में रायगढ़ के ये मंत्री सेना का विश्वास प्राप्त करना भूल गए। सेनापति हम्बीरराव मोहिते को भी अपनी योजना में शामिल नहीं किया। नतीजा यह हुआ कि उनकी योजना असफ़ल रही। सेना की मदद से संभाजी पन्हाला जेल से निकल आए और उन्होंने रायगढ़ के मंत्रियों का मुकाबला कर गद्दी हथिया ली। पर संभाजी ने अपनी इस सफलता का बड़ा क्रूर इस्तेमाल किया। इसी से साबित होता है कि भावी संकट का सामना करने में वह कितने असमर्थ थे। उन्होंने अपनी सौतेली मा को भूखा रखा जिससे उनकी मृत्यु हो गई; पुराने 'पेशवा', 'सचिव' तथा 'सुमंत' को जेल में ठूंस दिया और शिवाजी के समय के पुराने सचिव को मार डाला। क्रूरताओं का यही सिलसिला पूरे शासन-काल में चला जिससे वे सभी लोग संभाजी से नाराज़ हो गए जो शिवाजी के समय ऊंचे पदों पर आसीन हुए थे। वैसे वह स्वभाव से बड़े बहादुर थे, इसलिए क्रूरताओं के बावजूद कुछ समय तक लगता रहा कि पड़ोसियों के साथ युद्धों में वे सफ़ल रहेंगे और मराठों की प्रतिष्ठा को उजागर करेंगे। पर ये संभावनाएं पूरी न हुईं। शराबी तथा विलासी होने के कारण वे शीघ्र ही कमज़ोर पड़ गए। वह जादू-टोने तथा पिशाच-पूजा में भी विश्वास रखते थे और उनको सलाह मिलती थी 'कलुशा' से। संभाजी के शासन-काल के विस्तृत वर्णन से कोई लाभ नहीं, क्योंकि वास्तविकता यह है कि उन्होंने कभी शासन किया ही नहीं। 'अष्टप्रधानों' को निरर्थक कर दिया गया था और संभाजी के काल में उनका कोई दायित्व नहीं रह गया था। पिता की सैनिक तथा असैनिक शासन-व्यवस्था खटाई में पड़ गई थी, सैनिकों को समय पर वेतन मिलना बन्द हो गया था, पहाड़ी गढ़ों की सुरक्षा-व्यवस्था ढीली पड़ गई थी और जिले की मालगुज़ारी वसूली का ठेका उसे दिया जाने लगा जो सबसे ऊंची बोली लगाता। हर ओर अराजकता थी। ठीक उसी समय करीब तीन लाख की सैन्य शक्ति के साथ औरंगज़ेब ने दक्कन पर चढ़ाई कर दी। उसने सोचा कि दक्षिण भारत के हिन्दू तथा मुसलमान राजाओं को जीत कर सफलता का एक और, शायद सबसे गरिमामय, सेहरा बांध ले। इस साहसिक कार्य में काबुल से कन्धार तक, और उधर बंगाल तक, शक्ति के सारे साधन जुटा दिए गए थे। सेनाओं को अध्यक्षता मिली थी सर्वश्रेष्ठ हिन्दू तथा मुसलमान सेनापतियों की। उसी समय

औरंगजेब के एक बेटे ने संभाजी से शरण की याचना की। संभाजी के पास यह एक अच्छा अवसर था औरंगजेब की योजना को असफल करने का। पर वह अवसर चूक गए। पुराने मंत्रियो ने उन्हें इस बडे खतरे के विरुद्ध सावधान किया। पर औरंगजेब की सेना ने दक्खन में प्रवेश करने के तीन वर्ष के अन्दर गोलकुण्डा तथा बीजापुर को जीत लिया। संभाजी को अत्यन्त दीन दशा में, बड़ी सरलता के साथ पकड लिया गया और फिर अत्यन्त अपमानजनक तरीके से मार डाला गया। सभी मैदानी क्षेत्रों को कुचलकर, एक के बाद एक सभी पहाड़ी गढों को भी हथिया लिया गया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि उनकी सुरक्षा व्यवस्था बिगड गई थी। अन्त में रायगढ को भी जीत लिया गया और संभाजी के बेटे तथा पत्नी को औरंगजेब के शिविर में पेश किया गया। इस प्रकार दक्कन में प्रवेश करने के पांच वर्ष के अन्दर ही औरंगजेब ने अपने जीवन का सबसे बड़ा सपना पूरा कर लिया। नर्मदा से तुंगभद्रा तक सारा देश उसके कदमों में था। ऐसा लगने लगा कि शिवाजी तथा उनके साथियों का जीना और मरना व्यर्थ गया। जिस सैलाब से देश को बचाए रखने के लिए शहाजी तथा शिवाजी साठ वर्षों तक संघर्ष करते रहे उसी सैलाब में अब पूरा देश डूबा हुआ था। उसमें भी सभी कुछ तो डूब गया और उससे उबरने का कोई उपाय भी नही सूझ रहा था। बीजापुर तथा गोलकुण्डा के पुराने शासकों को दूर देशों में कैद कर दिया गया। संभाजी का बेटा भी उस समय बहुत कम आयु का और एक शिविर में बन्दी था।

पर ठीक उसी समय जबकि देश का भाग्य अपनी सबसे खराब दशा में था और हर कहीं घोर निराशा का वातावरण था, शिवाजी के सैनिक स्कूल में प्रशिक्षित कुछ बहादुर देशप्रेमी दुर्भाग्य के उसी अंधेरे में एक आशा की किरण से बने हुए थे। उनके पास न तो पैसा था और न साधन फिर भी उनके मन में यह चाह थी कि उनकी खोई हुई आजादी वापस मिले और औरंगजेब को खदेड भगाया जाए। उनके नेता थे शिवाजी के छोटे पुत्र राजाराम। उनको रायगढ में संभाजी ने कैद कर रखा था। संभाजी की मृत्यु के बाद वह वहां से निकल भागे थे। उस समय उनकी उम्र केवल बीस वर्ष थी, फिर भी उनके अन्दर पिता के लगभग सारे गुण विद्यमान थे। वे बहादुर तथा कुशल और बुराइयों से दूर थे। स्वभाव से नम्र तथा उदार भी थे और लोगों में आस्था तथा विश्वास पैदा करने की क्षमता रखते थे। उन्होंने जीवन भर शाहू के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने की शपथ ली थी। शाहू उस समय औरंगजेब के बंदी थे और वह स्वयं गद्दी पर नहीं बैठ सकते थे। इसलिए राजाराम भी कभी गद्दी पर नहीं बैठे और इस प्रकार शाहू के अधिकार के प्रति अपना सम्मान व्यक्त किया। राजाराम के मुख्य सलाहकार थे प्रह्लाद नीरजी। उनके पिता शिवाजी के शासन काल में न्यायाधीश हो; उनका नाम था नीरजी रावजी। संभाजी के शासन काल में प्रह्लाद नीरजी अपने

पद पर नहीं थे । वे राजनैतिक कार्यकलापों के तटस्थ दर्शक मात्र थे । वे अपने समय के मराठों में सबसे बुद्धिमान माने जाते थे । ग्राट डफ ने ब्राह्मणों की प्रशंसा कभी नहीं की । फिर भी वह प्रह्लाद को असामान्य मानता था । उसके अनुसार वह निजी स्वार्थ से पूरी तरह मुक्त थे; इसलिए ब्राह्मण राजनेताओं में उनका स्थान अनोखा था। राजाराम की तरह प्रह्लाद नीरजी भी देश की सुरक्षा का कार्य पूरा किए बिना ही मर गए । पर दोनों को यह सन्तोष था कि देश के सामने जो खतरा था, उस पर विजय लगभग पा ली गई है। बात अब सिर्फ समय की है। इन्ही देश भक्तों में रघुनाथ पंत हनमंते भी थे। वह शहाजी के सबसे पुराने ब्राह्मण 'कारकून', कर्नाटक जागीर के रखवाले के पुत्र थे । वह अपनी निःस्वार्थता तथा आत्मनिर्भरता के लिए ख्यात थे । उन्होंने तंजौर में वेंकोजी तथा रायगढ़ में संभाजी को अपनी आदतें सुधारने की सलाह दी थी, पर उसका कोई परिणाम नहीं हुआ था। सकट का समय आया तब वह प्रह्लाद नीरजी के साथ हो लिए, और जिंजी के किले को तैयार किया जो तंजौर जिले में शहाजी की जागीर में था । उन्होंने वहीं राजाराम तथा उनके साथियों का स्वागत किया । जिंजी की देखभाल करने तथा किलेबन्दी के कार्य को पूरा करने के लिए प्रथम पेशवा मोरोपंत पिंगले के बेटे नीलो मोरेश्वर को पहले ही भेज दिया गया था । ब्राह्मण नेताओं में, जो छापामार रणनीति में कुशल थे, सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे रामचन्द्र पंत अमात्य । वह कोल्हापुर के वर्तमान पंत अमात्य परिवार के पुरखे थे । वह आबाजी सोनदेव के बेटे थे—वही आबाजी सोनदेव जो शिवाजी के शासन-काल में उनके मुख्य सलाहकार व सेनाध्यक्ष थे । शिवाजी का उनके प्रति इतना विश्वास था कि उन्होंने उन्हें परिस्थिति के अनुसार वह जो भी चाहें वह करने का अधिकार दे रखा था । राजाराम ने अपनी पत्नी को उन्ही की देखरेख में छोड़ा था । विशालगढ़ में उनकी देखरेख में उन मराठा सेनापतियों ने भी अपने परिवार छोड़े थे जिनको दक्षिण जाकर बसना पड़ा था ।

इस प्रकार प्रकट रूप से रामचन्द्र पंत अमात्य ही मराठा शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले वह मुख्य अधिकारी थे जो दक्कन में रह गए थे और जिन्होंने मुगल सम्राट के समक्ष घुटने नहीं टेके थे । जिस दूसरे ब्राह्मण नेता का उल्लेख आवश्यक है वह थे शंकरजी मल्हार, जिनको संभाजी ने 'सचिव' नियुक्त किया था । वह जिंजी जाने वाले नेताओं के साथ थे । वह कुछ दिन वहीं रहे, फिर बनारस चले गए । सैय्यदों और मराठों के बीच एक संधि स्थापित कर उन्होंने शहाजी की बड़ी सेवा की थी। इस संकट से उबर कर शक्ति को सबसे पहले प्राप्त करने वाले ब्राह्मण नेताओं में थे परशुराम त्रिम्बक, किन्हई के कुलकर्णी, जो सतारा के औंध परिवार के प्रतिनिधि के पूर्वज थे और शंकरजी नारायण, जो भोर के पंत सचिव

पूर्वज थे। ये सभी रामचंद्र पंत के मुख्य सहायक थे। और देशवासियों के विश्वास के प्रतीक थे। मराठा नेताओं में जिन लोगों के कंधों पर शासन का विशेष दायित्व था वे थे सन्ताजी घोरपड़े तथा धनाजी जाधव। उनकी ओर लोगों का ध्यान पहले-पहले तब गया जब वह हम्बीरराव मोहिते के मातहत सेनापति पद पर थे। 1674 में पन्हाला के निकट उन्होंने एक युद्ध को हार से जीत में बदला था। मराठा सेनाओं की प्रतिष्ठा को उन्होंने कोई तीस साल तक बनाए रखा और मुगल सेना की पूरी शक्ति को बहादुरी के साथ झेलते रहे। वे राजाराम, प्रह्लाद नीरजी तथा कुछ अन्य अधिकारियों के साथ जिंजी गए, किन्तु फिर सुरक्षा की योजना कुछ इस प्रकार बनी कि उन्हें दक्कन लौट कर मुगलों का मुकाबला करना पड़ा और कर्नाटक तथा जिंजी पर फिर हमला न हो इसकी व्यवस्था करनी पड़ी। उनके पास न पैसा था और न साधन थे। उन्हें सैनिकों की सुख-सुविधा तथा घोड़ों के लिए दाना-पानी का प्रबन्ध स्वयं करना था, अस्त्र-शस्त्र के लिए पैसा भी एकत्र करना था। इसीलिए उन्होंने कुछ ज्यादतियां भी की। वे मुगलों की पूरी शक्ति के विरुद्ध लड़ रहे थे। मुगल सेना में उनका ऐसा आतंक छा गया था कि शताब्दी के अन्त के पहले ही वे अपने देश वापस लौटने में सफल हो गए। मुगल सुलतान की सेना को कमजोर करने के लिए उन्होंने गुजरात, मालवा, खानदेश तथा बरार पर हमले भी किए। फिर सन्ताजी को उनके एक निजी शत्रु ने धोखा देकर मार डाला। स्वतन्त्रता की लड़ाई तब तक समाप्त हो चुकी थी, पर उनके तीन भाई मुगलों के साथ अपना संघर्ष जारी रखे हुए थे। उन्होंने गूटी तथा सून्डूर नामक दो जागीरों की भी स्थापना की। धनाजी शाहू के अपने राज्य में लौट आने तक जीवित रहे।

दूसरे मराठा नायकों में खण्डेराव दाभाड़े भी श्रेष्ठ स्थान रखते थे। उनके पिता तालेगाव के पटेल थे और शिवाजी के शासन में सेवारत थे। वह भी राजाराम के साथ जिंजी जाने वालों में थे। मुगल साम्राज्य के स्थापित प्रदेशों में भी घुसपैठ करने वाले वह पहले मराठा नेता थे। वह दक्कन के बाहर गुजरात तथा खानदेश तक घुसे। उनके एक साथी ने, जो धार के पवार परिवार के संस्थापक थे, मालवा में भी प्रवेश किया। शाहू के लिए 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' का सनद लेने के लिए जब बालाजी विश्वनाथ दिल्ली गए तब उनके साथ खण्डेराव भी थे। युद्ध में श्रेष्ठ कार्य करने वाले दूसरे मराठा नेताओं में थे आठवले, सिदोजी नाईक निम्बालकर, परसोजी भोंसले (नागपुर राज्य के संस्थापक) तथा नेमाजी शिन्दे। लम्बी लड़ाई के अनुशासन में तपे मराठा देश की सेवा में श्रेष्ठ कार्य करने वाले दूसरे विशिष्ट व्यक्ति थे थोरात, घाडगे, ठोके, महार्णव, पाढरे, चव्हाण, पाटणकर, वंगर, फडू तथा कुछ अन्य। राजाराम के सलाहकारों ने इन्हीं अधिकारियों को नियुक्त किया था मुगल सम्राट के अधीन राज्यों से 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' वसूल करने को। गोंडवन तथा

बरार से चौथ वसूल करने के लिए परसोजी भोंसले को एक सनद भी प्राप्त था। निम्बालकरों ने उनके ऊपर गंगथड़ी का भार सौंपा था। दाभाड़े गुजरात तथा खानदेश की देखभाल करते थे। दूसरे नेताओं को कर्नाटक में नियुक्त किया गया था; मुगलों द्वारा हाल ही जीते गए कुछ अन्य प्रदेशों की देखभाल भी वही करते थे।

प्रभु नेताओं में दो नेताओं का उल्लेख विशेष रूप से होना चाहिए। पहले नेता थे खण्डो बल्लाल चिटनिस। वह शिवाजी के मुख्य सचिव बालाजी आवजी के पुत्र थे। उनके पिता तथा चाचा को संभाजी ने क्रूरता के साथ मरवा डाला था, फिर भी वह उनके प्रति वफादार रहे और पुर्तगालियों के साथ युद्ध में अपनी सेवा निष्ठा के कारण संभाजी के विश्वास के भागी हुए। संभाजी की मृत्यु के बाद राजाराम के साथ जिंजी जाने वालों में वह भी थे। बल्लारी में मुसलमान गवर्नर ने जब वेश बदलकर भागने वाले इन व्यक्तियों को पकड़ना चाहा तब बल्लाल पीछे रह गए और अपने बाकी साथियों को निकल भागने दिया। मुगल गवर्नर ने उन्हें बहुत सताया, फिर भी उन्होंने अपनी वफादारी नहीं छोड़ी। बाद में जिंजी से राजाराम को सुरक्षा के साथ निकलवा देने का प्रबन्ध भी उन्होंने ही किया। इसके लिए उन्हें मुगल सेना के कुछ मराठा सेनापतियों को पटाना पड़ा था। इसके लिए उन्हें अपना 'वतन' निछावर करना पड़ा। कोंकण स्थित उस 'वतन' को उन मराठा सेनापतियों ने ले लिया। शाहू के सतारा लौटने तथा पूर्वजों के सिंहासन पर आसीन होने तक वह जीवित रहे। दूसरे प्रभु नेता, जिन्होंने इन युद्धों में ख्याति प्राप्त की, प्रयागजी थे। वह औरंगज़ेब की सेना के विरुद्ध सतारा की सुरक्षा में कई महीने लड़ते रहे।

ये ही थे मुख्य ब्राह्मण, मराठा तथा प्रभु देशभक्त नेता। वे विपदा की घड़ी में भी कभी विचलित नहीं हुए। उनका एक ही संकल्प था, राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए अन्तिम सांस तक लड़ते रहना। दक्कन में जब देश की सुरक्षा का प्रबन्ध और अधिक मजबूत करने का समय उन्हें नहीं मिला, तब वे दक्षिण जाकर जिंजी में बस गए। राजाराम ने अपने 'अष्ट प्रधान' स्वयं नियुक्त किए थे। वह वहीं अपना दरबार लगाते थे जैसे वह अब भी अपने देश के राजा हों, सेवा–निष्ठा प्रदर्शित करने के लिए लोगों को जागीर तथा इनाम देते थे और अपने सेनापतियों को आदेश देते थे कि मुगलों के साथ अपनी लड़ाई को वह दूनी ताकत के साथ कायम रखें। समर्थक नेताओं को भी आदेश था कि वे अपनी-अपनी सेनाएं बनाएं और 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' की वसूली दक्कन के छ. सूबों में ही नहीं, बल्कि मुगल साम्राज्य के पुराने सूबों में भी करें। औरंगज़ेब को शीघ्र ही पता लग गया कि दक्कन [illegible] का उसको तब तक कोई लाभ नहीं जब तक सत्ता के इस नए केन्द्र जहां ये सभी मराठा नेता आकर बस गए थे, दमन न कर दे। दक्कन

जीतने वाला था जुल्फ़िकारखां। उसको भेजा गया कि वह जिंजी का घेराव कर ले, और 1691 में उसने अपना घेरा डाल दिया। पर उस स्थान की ऐसी जबर्दस्त किलेबंदी की गई थी, और सन्ताजी घोरपड़े तथा धनाजी जाधव ने घेरा डालने वालों के खिलाफ अपना कार्य इतनी चतुराई से किया था कि उसे जिंजी को जीतने में सात साल लगे। राजाराम तथा उनके आदमी भी वहां से निकल भागे थे। इन सात वर्षों में मराठों को सांस लेने का समय मिला, जिसकी उन्हें इतनी जरूरत थी। इन्हीं वर्षों में उन्होंने अपने को मुगल ताकत से बराबरी के दर्जे पर लोहा लेने के योग्य भी बनाया। औरंगज़ब की सेना का आतंक धीरे-धीरे खत्म हो गया। मराठा सेना का एक भाग जिंजी की सुरक्षा में तैनात रहा। धनाजी जाधव तथा सन्ताजी घोरपड़े दक्कन लौट गए और वहां जाकर उन्होंने शिवाजी के समय के अनुभवी सिपाहियों, सिलेदारों तथा बारगीरों को फिर से प्रशिक्षित किया। ये सभी सिपाही अवैतनिक थे पर 'घास—दाने' की व्यवस्था द्वारा उन्हें रसद आदि मिलता रहता था। इन घटनाओं के पहले, 1691 में भी मराठों ने नासिक, बीड़ तथा बीदर को लूटा था। 1692 में रामचन्द्र पंत ने विशालगढ़ छोड़ दिया और सतारा जाकर बस गए। वही घाटमाथा के शासक भी हुए। उन्होंने सेना भेजकर दूर—दूर तक फैली मुगल टुकड़ियों का सम्पर्क सूत्र काट दिया और वे अलग-अलग पड़ गई। इस प्रकार वाई, रायगढ़, पन्हाला और मीरज को हथिया कर उन्हें मराठा चौकी बना दिया गया।

पक्षधर युद्ध में अच्छा काम करने के लिए पवार, चव्हाण, थोरात तथा आठवले जातियों को जिंजी दरबार में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। 1693 में औरंगज़ब के लिए अपने शिविर को भीमा ले जाना जरूरी हो गया, तब उसने अपने बेटे तथा अपने मुख्यमंत्री असदखां को जिंजी भेज दिया।

1694 में सन्ताजी घोरपड़े के नेतृत्व में मराठों ने औरंगज़ेब के खेमे के उत्तर के प्रदेशों को लूटा। उधर रामचन्द्र पंत युद्ध को पश्चिम में शोलापुर तक ले गए। 1695 में सन्ताजी ने परसोजी भोंसले तथा हैबतराव निम्बालकर को बरार तथा गंगथड़ी में छोड़ दिया ताकि वे दिल्ली से आने वाले सुलतान के दूतों को परेशान करते रहें। फिर स्वयं कर्नाटक चले गए और घेरा डालकर पड़े शत्रुओं पर जोरदार हमला किया, तथा उन्हें हरा दिया। उधर सन्ताजी, धनाजी से मिलकर अगल-बगल हमले करते रहे, इस प्रकार शत्रुओं की बरबादी एक प्रकार से पूरी हो गई। इस प्रकार घेरा डालने वालों को उन्होंने पूरी तरह से विफल कर दिया। उधर असदखां तथा सन्ताजी के बीच युद्ध-विराम या समझौता हुआ जिसके अनुसार कुछ शर्तों पर मुगलों को वापस चले जाने की अनुमति दे दी गई। किन्तु औरंगज़ेब को अपने मंत्री द्वारा

किया गया यह समझौता अच्छा नही लगा । उसने अपने बेटे को बुला लिया और जुल्फ़िक़ारखां के नेतृत्व में एक दूसरी सेना भेजी। पर कुछ समय तक फिर से घेरा डालना संभव नही हो सका। इस बीच सन्ताजी के सामने कोई तुरन्त पैदा होने वाला खतरा नही रह गया था। इसलिए वह बीजापुर में औरंगजेब के शिविर के इर्द-गिर्द मडराते रहे और दोडरी के निकट उसके गवर्नर कासिमखा को हरा कर उसे हथियार डालने पर मजबर किया।

इसी प्रकार एक दूसरे सेनापति हिम्मतखां को भी फंसाकर हरा दिया गया। किन्तु 1697 में शत्रुओं ने एक बार फिर घेरा डाला। राजाराम तो किले को छोड़कर भाग निकलने में सफल हो गए पर जनवरी 1698 में किला दुश्मनों के हाथ में चला गया। राजाराम सतारा जाकर, रामचन्द्र पंत से मिल गए और फिर एक-एक कर सभी मराठा सेनापति, परसू भोंसले, हैवतराव, निम्बालकर, नेमाजी शिन्दे, आठवले तथा शमशेर बहादुर अपने-अपने देश लौट गए। युद्ध का मुख्य स्थान भी कर्नाटक तथा द्रविड़ देश से हटाकर दक्कन कर दिया गया। पर धनाजी जाधव मराठा देशों की रक्षा के लिए दक्षिण में ही रह गए। समुद्र तट के किले मराठों के प्रति वफ़ादार बने रहे। कान्होजी आग्रे के नेतृत्व में मराठा सिपाही त्रावनकोर से बम्बई तक पूरे समुद्री तट पर लूटमार करते और माल तथा समुद्री पोत आदि हथियाते रहे सावंत भी वफ़ादार बने रहे।

1699 में राजाराम ने अपनी सभी सेनाओं के मुखिया के रूप में खानदेश में प्रवेश किया। वह गंगथड़ी, बरार तथा बगलान तक गए और 'चौथ' तथा 'सर-देशमुखी' वसूल किए। जब सतारा लौटे तो अपने चार सेनापतियों को स्थायी रूप से वही छोड़ आए। ये थे--बगलान में दाभाड़े, खानदेश में शिन्दे, बरार में भोंसले तथा गंगथड़ी में निम्बालकर।

1700 में औरंगजेब ने मराठों के इन गढ़ों को संख्या कम करने का संकल्प किया, क्योंकि ये मराठों को सुरक्षा के लिए बड़े काम के साबित हो रहे थे। इस काम के लिए उसने एक अलग सेना तैयार की और उसका अध्यक्ष खुद बना। उधर जुल्फ़िक़ारखा को आदेश दिया कि राजाराम को सेना के साथ खुले मैदान में लड़ाई जारी रखे। इस प्रकार वह गढ़ पर गढ़ जीतता गया और फिर सतारा को घेर लिया। प्रयागजो प्रभु द्वारा सतारा का बचाव बड़ी बहादुरी से किया गया, पर एक लम्बी लड़ाई के बाद वह मराठों के हाथ से निकल गया। उसी समय सिंहगढ़ में राजा-राम का देहान्त हो गया। शाहू अभी भो मुगल शिविर में बन्दी थे, इसलिए उनके बड़े पुत्र, जो मात्र दस वर्ष के थे, उत्तराधिकारी नियुक्त हुए। रामचन्द्र पंत पहले की

तरह ही शासन का कार्य देखते रहे। कर्नाटक से धनाजी को बुला लिया गया और मराठा नेताओं ने उनके तथा रामचन्द्र पंत के नेतृत्व में पूरी शक्ति के साथ संघर्ष जारी रखा और पूरे देश से 'चौथ', 'सरदेशमुखी', तथा 'घासदाना' लेते रहे। उधर सुलतान भी अपनी योजना के अनुसार कार्य करता रहा और चार वर्षों तक एक-एक कर दुर्ग पर दुर्ग जीतता रहा। दुर्गों से भगाए जाने पर मराठा सिपाही मैदानी भागों में फैल गए तथा खानदेश, बरार तथा गुजरात पर हमले किए। एक टुकड़ी नर्मदा पार कर मालवा तक पहुंच गई और उसने अपने को वहां पूरी तरह जमा लिया। अन्त में 1705 में औरंगजेब के सैनिक तथा असैनिक सलाहकारों ने सुझाव दिया कि मराठों के साथ एक संधि की जाए। औरंगजेब इस बात पर राजी हो गया कि मराठा दक्खन के छ: प्रदेशों से 'सरदेशमुखी' उगाहते रहें, बशर्ते वह वहां शान्ति भी बनाए रखें। उसने मुगल सेवारत दो मराठा परिवारों, शिन्दे तथा जाधव की दो महिलाओं से शाहू के विवाह का भी प्रबंध किया और विवाहोपहार स्वरूप अक्कलकोट, इन्दापुर नेवासे तथा बारामती की जागीर भी दी। पर ये सारे समझौते निष्फल गए क्योंकि मराठे अपनी मांगें बढ़ाते गए। मुगलों ने अपनी ओर से कुछ सुस्ती के साथ ही सही, पर लड़ाई जारी रखी। मराठों ने पिमाला को पुन: जीत लिया और उसे अपने राजा शिवाजी तथा उनकी माता ताराबाई का निवास स्थान बना दिया। पवनगढ़, वसन्तगढ़, सिंहगढ़, राजगढ़ और सतारा को भी फिर से वापस जीत लिया गया और बाद में 1707 में धनाजी ने पूना तथा चाकण भी ले लिया। इस प्रकार औरंगजेब की सारी योजनाओं पर पानी फिर गया। उसने मराठों में फूट डालने के लिए शाहू को सलाह दी कि वह मराठा नेताओं को, अपने को उनका राजा बताते हुए, अपने हस्ताक्षर के साथ एक पत्र लिखें और उन्हें आदेश दें कि वे सम्राट के सामने हथियार डाल दें। यही उसकी आखिरी चाल थी, पर वह भी बेकार गई। औरंगजेब के जीवनकाल में शाहू को मुक्त करने की दिशा में भी कोई कदम नहीं उठाया गया, पर उसने शान्ति के जो प्रयत्न किए, और शाहू से जो पत्र लिखवाए, उनसे स्पष्ट झलकता है कि उसे इस बात का पूरा विश्वास हो गया था कि मराठों के साथ बीस साल तक चलने वाले ये युद्ध कितने अनर्थकारी थे। उसकी शानदार सेना बेकार कर दी गई थी, या खत्म कर दी गई थी। उसके अपने खेमों को भी लूटा गया था और उसके खुद पकड़े जाने का भी खतरा पैदा हो गया था। अहमदनगर में अपनी मृत्यु के समय उसने स्वीकार भी किया कि उसका जीवन व्यर्थ गया। जब वह मरा तो वह कितना टूट चुका था, कितना पछता रहा था और उसके ऊपर टूटी हुई आशाओं तथा आकांक्षाओं का कितना बड़ा बोझ था।

उसकी मृत्यु के तुरन्त बाद जुल्फिकारखां की सलाह पर उसके बेटे आजिमशाह ने शाहू को छोड़ दिया। समझौता यह हुआ कि यदि मराठों ने शाहू को राजा माना तो वह 'स्वराज्य' नामक उस पूरे क्षेत्र को लौटा देंगे जो उनके पितामह ने बीजापुर

से जीता था तथा वह भीमा और गोदावरी के बीच के गढ़ भी उसे दे देंगे। मराठा नेताओं ने शाहू को अपना राजा मान लिया। सतारा में 1708 में राज्याभिषेक हुआ। कुछ ही वर्षों में वह पुराने मराठा देश के पूरे हिस्से के मालिक बन बैठे। हां, कोल्हापुर का ज़िला राजाराम के पुत्र के अधिकार में था। दक्कन के मुगल शासक ने वहां के छः सूबों में 'चौथ', तथा 'सरदेशमुखी' उगाहने का शाहू का दावा मान लिया। अगले दस वर्षों में बालाजी विश्वनाथ पेशवा तथा खण्डेराव दाभाड़े 'चौथ', 'सरदेशमुखी' तथा 'स्वराज्य' की वसूली के लिए औपचारिक सनद प्राप्त करने में सफल हुए।

इस प्रकार स्वतंत्रता की इस बीस वर्षीय लड़ाई का अन्त सुखद रहा। परिणाम को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि संघर्ष के ये बीस वर्ष मराठा इतिहास के सबसे गरिमामय वर्ष थे। शिवाजी को कभी मुगल साम्राज्य की पूरी शक्ति के साथ लड़ना नहीं पडा। उन्हें सिर्फ भारी आत्म बलिदान करना पड़ा, क्योंकि मुगलों के सेनापति जयसिंह उन्हें इसके लिए हमेशा बाध्य करते रहे। एक बात और ; उन्हें दक्षिण के दो मुसलमान राजाओं का भी बड़ा सहारा था, क्योंकि वह उन्हें मुगलों के खिलाफ भड़काते रहते थे। दूसरे, उन्हें पर्वतीय गढ़ों का भी लाभ मिला हुआ था। इसके विपरीत वे दूसरे देश भक्त थे जिन्होंने इन सुविधाओं के अभाव में भी स्वतंत्रता की लड़ाई को जारी रखा। उनके सामने शिवाजी जैसा कोई नेता भी नहीं था, जिसका व्यक्तिगत चरित्र इतना आकर्षक हो कि वह देशवासियों को वश में कर सके। उन्हें लड़ना भी पडा था मुगलों की पूरी साम्राज्य शक्ति से। उस शक्ति का संचालन कर रहा था स्वयं मुगल बादशाह औरंगज़ेब, हिन्दुस्तान भर की पूरी ताकत के साथ। संभाजी के शासन की क्रूरता तथा अराजकता के कारण उनके अनुभवी नेता भी मारे जा चुके थे। उनका राजकुमार भी मुगलों की कैद में था और उन्हें भी अपने देश से खदेड कर विदेश भेज दिया गया था। उनके पास न तो धन था, न सेना और न गढ़। किसी प्रकार के साधन भी नहीं थे। फिर भी उन्होंने सेना एकत्र की, गढ़ों को जीता और विजय की एक ऐसी प्रणाली स्थापित की जिससे वे न केवल 'स्वराज्य' प्राप्त करने में सफल हुए, बल्कि दक्कन तथा कर्नाटक में 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' वसूल करने के भी अधिकारी हुए। बहुतों का तो संघर्ष के मध्य में ही देहान्त हो गया। उनमें थे राजाराम, प्रह्लाद नीरजी, सन्ताजी घोरपड़े तथा कुछ अन्य। इन सभी ने मिलकर, सुनियोजित ढंग से कार्य को आगे बढ़ाया था। उनके न रहने पर उनके स्थान को दूसरों ने लिया, उसी सफलता तथा लगन के साथ। यदि औरंगज़ेब ने दक्कन पर हमला कर लोगों को युद्ध के लिए बाध्य न किया होता तो सम्भव है कि पश्चिम महाराष्ट्र में एक नए राज्य की स्थापना होती, जैसा कि तंजौर में हुआ था, और वह राज्य मुगल बादशाह का एक ऐसा सहायक राज्य

बनता जिस पर उसे पूरा भरोसा होता। साथ ही देशभक्ति की जो भावना शिवाजी ने उत्पन्न की थी, वह भी दूसरी पीढ़ी के आने तक समाप्त हो जाती। किन्तु यह भी होता कि हमेशा सशक्त रहने वाली अलगाव की प्रवृत्ति कुछ और जोर पकड़ती और मराठा राष्ट्र का निर्माण ही असम्भव हो जाता।

किन्तु जो इन सभी खतरों से बचा जा सका, और लोगों में जो एक नई स्फूर्ति उत्पन्न हो गई, उसका पूरा श्रेय औरंगज़ेब की महत्त्वाकांक्षा को है। उसने महाराष्ट्र के लोगों को जड़ तक हिला दिया था, जिसकी वजह से वे अपने बीस साल के संघर्ष के दौरान पूरी तरह से अनुशासित रहना सीख गए थे। इससे नेताओं की देशभक्ति की सहज भावना को काफी बल मिला जिससे प्रेरित होकर वे अगली तीन पीढ़ियों तक भारत के सुदूर प्रान्तों तक विजय प्राप्त करने में सफल होते रहे। इस दृष्टि से इस स्वातंत्र्य-युद्ध का योगदान उस संघर्ष से भी ज्यादा महत्वपूर्ण रहा जिसे शिवाजी ने शुरू किया था, और जिसे वह उतार-चढ़ाव भरे अपने जीवन में पूरी तरह झेलते रहे। इतने बड़े दुश्मन के खिलाफ सिर्फ लूटमार की लड़ाई से सफलता नहीं मिल सकती थी। इस लड़ाई के पीछे वास्तव में एक उच्च नैतिक शक्ति थी, जिससे प्रेरित होकर राष्ट्र के सभी अच्छे लोग अपने सभी गुणों के साथ एकत्र हुए थे। उनमें स्वाभाविक बहादुरी के साथ सहिष्णुता तथा नायकत्व के गुण थे। शासन में भी वे अत्यन्त कुशल थे और उनकी आशा का पलड़ा निराशा के पलड़े से हमेशा भारी रहा। हर निराशा के साथ देश के प्रति उनकी निष्ठा भी बढ़ती जाती तथा एक उच्च आदर्श के प्रति उनके मन में एक ऐसी लगन की भावना थी जो काल, स्थान तथा व्यक्ति की सीमाओं से परे थी। समान खतरा उत्पन्न हो जाने पर भाईचारे का भाव, समान उद्देश्य के प्रति आत्म बलिदान तथा एक दूसरे की सुविधा का ख्याल, और अन्तिम सफलता के प्रति उनकी पूर्ण निष्ठा आदि उनके विशेष गुण थे। देश के लिए संघर्ष ही उनका परम धर्म था। अपने इन्हीं गुणों के कारण उस पीढ़ी के ये देशभक्त अपने देश को उस बड़े खतरे से मुक्त करा सकने में सफल हुए जिस खतरे को देश का कोई दूसरा वर्ग अथवा जाति झेल नहीं पाये थे। *स्वतन्त्रता का यह युद्ध वह पाठशाला था जिसमें* इन्हीं गुणों तथा अनुशासन का पाठ पढ़ाया गया। इसी कारण से मराठा इतिहास की इस अवधि को सर्वाधिक घटनापूर्ण माना जाता है।

अध्याय 10

अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर

जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, स्वतन्त्रता की बीस साला लड़ाई के अन्त तक शाहू को छोड़ा जा चुका था और वह मराठों के मान्य नेता होकर दक्कन वापस आ चुके थे। अब उनके सामने बस एक ही उद्देश्य था—अपने पितामह शिवाजी की नीतियों को आगे बढ़ाते हुए महाराष्ट्र संघ को सगठित करना। इस प्रकार इस युद्ध का मुख्य उद्देश्य, जिसके लिए यह मुगलों के विरुद्ध शुरू किया गया था, तो पूरा हो चुका था पर इससे पक्षधर नेताओं के बीच तीव्र आवेश पैदा हो गया था जो सभी अपनी-अपनी जमीन के लिए लड़ने लगे थे और अपनी स्वाधीनता को छोड़ने को तैयार न थे। इससे देश में जो अराजकता तथा अस्त-व्यस्तता की स्थिति पैदा हो गई, उससे उसे उबरने में कई वर्ष लग गए। जिस भावना ने मराठा नेताओं को एक होकर काम करने को प्रेरित किया था, वह औरंगजेब के मरते ही समाप्त हो गई। उसकी सेना की पराजय से स्वतन्त्रता आन्दोलन से विमुख हो जाने वाले नेताओं पर भी उसका नियन्त्रण न रहा। ऐसा लगता है जैसे औरंगजेब के सलाहकारों ने उसे शाहू को छोड़ देने की सलाह इसी मन्तव्य से दी हो कि इससे यह दुहरा उद्देश्य पूरा हो—अर्थात् मराठों में विवाद तथा संघर्ष भी पैदा हो जाए और लोग यह भी सोचने लगें कि उसने उन्हें राष्ट्रीय भावना का ख्याल कर मुक्त किया है। शाहू का लौटना उन अनेक पक्षधर नेताओं को अच्छा नहीं लगा जो राजाराम के साथ थे और जो ताराबाई तथा उनके पुत्र की खातिर कार्य कर रहे थे। पंत सचिव तथा पंत अमात्य शाहू से अलग हो गए और पुराने राष्ट्रीय दल के एकमात्र नेता धनाजी ही ऐसे थे जिन्होंने ताराबाई का साथ छोड़ा। उन्हें शाहू के विरोध के लिए भेजा गया पर जब शाहू ने उन्हें समझाया कि उनका दावा उचित है तब वह उनके साथ मिल गए। म्हसवड के माने देशमुखों ने क्रूर हमला कर धनाजी जाधव के घोर विरोधी सन्ताजी घोरपड़े को मार डाला। उधर कर्नाटक में उनके तीन बेटे अपने निजी बल पर मुगलों के खिलाफ अपना संघर्ष जारी रखे हुए थे। शाहू के शक्ति में आने के बाद धनाजी जाधव अधिक दिन जिन्दा न रहे। उनके बेटे चन्द्रसेन जाधव इतने आत्म-गर्वित थे कि उन्हें उन उच्च विचारों अथवा भावनाओं के प्रति कोई आकर्षण नहीं था जिनके कारण उनके पिता स्वातन्त्र्य-युद्ध में राष्ट्रीय सेना के अध्यक्ष हुए थे। भावी पेशवा बालाजी विश्वनाथ के साथ शिकार खेलते हुए उनका उनसे कोई छोटा-मोटा झगड़ा

हो गया और उन्होंने नौकरी छोड़ दी। फिर वह कोल्हापुर चले गए और फिर हैदराबाद के निजाम की सेवा में आ गए। इस प्रकार राष्ट्र उनकी सेवाओं से वंचित रहा। दूसरे नेताओं में खण्डेराव दाभाड़े अपने को खानदेश में स्थित करने में लगे हुए थे, ताकि वह अपने अभियान गुजरात में और आगे ले जा सकें। राजाराम के मुख्य सलाहकारों में थे नेमाजी शिन्दे, पर उन्होंने बाद में मुगलों की सेवा स्वीकार कर ली। उधर परसोजी भोंसले, दाभाड़े की तरह बरार तथा गोंडवाना में अपना भाग्य आजमा रहे थे। खण्डेराव दाभाड़े तथा परसोजी भोंसले, इन दोनों ने अपनी स्वायत्तता को समाप्त किए बिना ताराबाई के विरुद्ध शाहू के हाथ को मजबूत किया। हैबतराव निम्बालकर की वफादारी, जो अब गंगथड़ी में बस गए थे, संदिग्ध थी। पद से च्युत कर दिए जाने पर उन्होंने शाहू को छोड़ दिया और निजाम से मिल गए। इस प्रकार जो प्रथम श्रेणी के नेता थे वे लगभग बराबर-बराबर शाहू, ताराबाई तथा निजाम के बीच बंट गए थे। दूसरी श्रेणी के नेताओं में कान्होजी आंग्रे ने ताराबाई का साथ दिया और कोंकण के प्रशासक हुए। थोरात चह्वाण तथा आठवले खुद अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने में लगे हुए थे। सतारा में शाहू जब अपने पितामह की गद्दी पर बैठे तब थोरात तथा चह्वाण ने काफी परेशानी पैदा की। हर तरफ लूटमार की और सभी परम्पराओं को तोड़ते हुए 'चौथ' तथा 'घासदान' में अपने हिस्से का भी दावा करने लगे और इस प्रकार केन्द्रीय सत्ता को मजाक बना दिया। मुगल गवर्नर ने एक ब्राह्मण लुटेरे को महाराजा की उपाधि दे रखी थी। वह सतारा से बीस मील की दूरी पर खटाव में बस गया। इस प्रकार शाहू का राज्य उनकी अपनी राजधानी तथा कुछ उन पर्वतीय गढ़ों तक सीमित होकर रह गया जिन पर उनके आदेश की सेना का अधिकार था।

शाहू के गद्दी पर बैठने के समय ये ही वे परिस्थितियां थी जिनसे उनके सलाहकारों को जूझना था। साथ ही, इतनी सफलता के साथ जीते गए युद्ध का प्रभाव भी अब परिलक्षित होने लगा था क्योंकि हर तरफ एक प्रकार की अशान्ति तथा अनुशासनहीनता का वातावरण पैदा हो गया था। युद्ध के साथ जुड़ी हुई मराठों की जो शक्ति थी वह अभी भी जीवित थी किन्तु उनमें समान उद्देश्य की वह प्रेरणादायक भावना नहीं थी जिससे वह युद्ध के दौरान एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। शाहू के जीवन के सबसे बहुमूल्य वर्ष जेल में बीते थे और यद्यपि जेल के आखिरी दिन कोई अधिक कठिनाई भरे नहीं रह गए थे फिर भी उनके अन्दर मुसलमान नवाबों की आरामतलबी आ गई थी। इनके पिता तथा पितामह के मन में मुगलों के प्रति जो घृणा की भावना थी उससे वह समझौता नहीं कर पा रहे थे। वह सिर्फ यह चाहते थे कि वह मुगल साम्राज्य के बस एक बड़े नवाब बन जाएं। इतने से ही वे खुश थे। वह व्यक्तिगत रूप से बहादुर थे और उनमें अनेक मानसिक तथा भावनात्मक गुण भी थे, किन्तु उस समय की अराजक स्थिति में देश को आवश्यकता थी उस संगठन-प्रतिभा की जो

उनके पितामह में थी और ज़ो दुर्भाग्यवश उन्हें उत्तराधिकार में न मिल सकी। दक्कन के कुछ पहाड़ी गढ़ों को छोड़कर लगभग पूरे देश पर मुगल गवर्नरों का अधिकार था और गो कि उनकी सेनाओं को मात खानी पड़ी थी फिर भी वे काफी अच्छी स्थिति में थी। इन परिस्थितियों में प्रकृति तथा स्वभाव दोनों से शाहू किसी नई नीति-योजना का निर्माण करने में असमर्थ थे। बिना किसी अन्य मे सहायता लिए सफलता प्राप्त करना भी उनके लिए कठिन था। समय की आवश्यकता यह भी थी कि उनकी सेवा में कुछ व्यापक दृष्टि रखने वाले कुशल सेनापति भी होते। कुछ वर्षों तक तो ऐसा लगा जैसे कि ज़ुल्फिकारखा की योजनाएं अफमल होने जा रही हों। मराठों में पारस्परिक ईर्ष्या तथा गलत फहमिया पैदा हो गई थी, इसलिए उनका कोई सम्मिलित प्रभाव नहीं रह गया था। इस प्रकार शाहू के समक्ष जो यह चुनौतियां का अवसर आज था यह निस्सन्देह व्यर्थ चला जाता यदि उनके भाग्य से उनके गद्दी पर बैठने के कुछ ही वर्षों में कुछ महान नेता उभर कर सामने न आते। समय की माग सिर्फ ताकत और बहादुरी नहीं थी, वह तो काफी मात्रा में उपलब्ध थी ही। अधिक आवश्यक बात थी संगठन की शक्ति तथा दूरदर्शितापूर्ण देशभक्ति। आवश्यकता इस बात की भी थी कि विरोधी तत्वों के आपसी टकराव को रोक कर स्थायित्व पैदा किया जाए और उसे व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं बल्कि उन परम्पराओं को आगे बढ़ाने में इस्तेमाल किया जाए जिन्हें पचास वर्ष पहले शिवाजी उत्तराधिकार के रूप में लोगों के समक्ष छोड़ गए थे। उस समय जो महत्वपूर्ण लोग सामने आए उनमें बालाजी विश्वनाथ की स्थिति जल्दी ही काफी सुदृढ़ हो गई क्योंकि उन्हें लोगों का सहयोग मिला। लोग समझते थे कि उनके व्यक्तित्व में उन्हीं गुणों का समन्वय है जिनकी उस समय देश को आवश्यकता थी। कारकुनी में वह धनाजी जाधव की सेवा में रह चुके थे। कारकुनी में उन्हें स्थापित करने का श्रेय पुरन्दरे परिवार के संस्थापक आबाजी पुरन्दरे को था। वे दोनों धनाजी जाधव के मुख्य असैनिक सलाहकार थे और एक थे कोंकणस्थ और दूसरे थे देशस्थ ब्राह्मण। शिवाजी के राज्य तथा शक्ति को संगठित करने में दक्कन के ब्राह्मणों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी और उनमें से बहुतों ने—जैसे हनुमन्ते, पिंगले, आबाजी सोनदेव तथा प्रह्लाद नीरजी आदि ने अपने-अपने क्षेत्र में अच्छा कार्य किया था। मराठा शक्ति के विकास के पहले साठ वर्षों में कोंकणस्थों की भूमिका कोई खास महत्वपूर्ण नहीं थी किन्तु अब महत्वाकांक्षी तथा प्रतिभा सम्पन्न लोगों के सामने काफी बड़ा अवसर था देश की सेवा में अपने भाग्य की परीक्षा का। इन व्यक्तियों में जो कोंकण से अपना घरबार छोड़कर इस कार्य के लिए सामने आए उनमें बालाजी विश्वनाथ तथा भानु परिवार के संस्थापक उनके एक दोस्त के नाम मुख्य हैं। ये दोनों जंजीरा में सिद्दियों के अत्याचारों के कारण वहा से हटे थे। बालाजी विश्वनाथ तथा आबाजी पुरन्दरे अपने मालिक धनाजी जाधव के साथ उस समय आए थे जब उन्हें ताराबाई ने दक्कन में शाहू की वापसी का विरोध

करने के लिए भेजा था। धनाजी जब मरने लगे तब उन्होंने अपने इन दो विश्वासपात्र सलाहकारों को सलाह दी कि वे नए मालिक का ख्याल रखें। बालाजी ने इस क्षेत्र में शाहू के परामर्शदाता के रूप में विशेष रूप से कार्य किया और अधिक समय बीतने के पहले ही यह एक शक्तिशाली मुख्यमंत्री बने। बाद में पेशवा बहिरोपन्त पिंगले अपने मालिक को जब सन्तुष्ट नहीं कर पाए तब उनके स्थान पर बालाजी को ही पेशवा बनाया गया। बालाजी वह व्यक्ति थे जिनके लिए कहा जा सकता है कि उन्होंने अपनी प्रतिभा तथा देशभक्ति के बल पर उस कार्य को सम्पादित कर दिया दिया जो अन्यथा सम्भव न हो पाता। उनका ध्यान सबसे पहले जनता के बीच शान्ति तथा अनुशासन उत्पन्न करने की ओर गया। उन्होंने उस अराजकता को भी दूर किया जो हमलावरों की लुटेरी प्रवृत्ति के कारण पैदा हो गई थी और जिसकी वजह से देश में एक अभूतपूर्व आतंक छाया हुआ था। सबसे पहले खटाव ब्राह्मण दस्यु को पराजित किया शाहू के नए प्रतिनिधि, परशुराम त्रिम्बक के पुत्र ने। उसी समय पुराने सचिव शंकराजी की मृत्यु हो गई, जो ताराबाई की सेवा में थे। उनकी मृत्यु के बाद उनका कामकाज नाबालिग सचिव की मां देखने लगी। उसी समय देश की सुरक्षा के लिए बालाजी विश्वनाथ नई शक्तियों का संगठन कर रहे थे। उनसे प्रेरित होकर अवयस्क सचिव की माता भी उसी संगठन में शामिल हो गई। उसके बाद थोरात दस्युओं का दमन करने के लिए बालाजी विश्वनाथ ने उन पर स्वयं हमला किया। पर दुर्भाग्य से उन्हें धोखा देकर पकड़ लिया गया और फिर उन्हें फिरौती देकर छुड़ाना पड़ा। सचिव की सेना को थेरात दस्युओं के खिलाफ एक बार फिर भेजा गया, पर वह हार गई। अन्त में उन लुटेरों को दबाने और उनके किले को धूल में मिलाने में बालाजी सफल हुए। चह्वाण नेता को कुछ सुविधाएं देकर ठंडा कर दिया गया था। पुराने पेशवा बहिरोपन्त ने कान्होजी आंग्रे से बातचीत शुरू की। पर वह वार्ता सफल न रही और बालाजी से कहा गया कि वह उसका अन्त करा दें। आंग्रे की देशभक्ति की भावना को उकसा कर उन्हें ताराबाई का साथ छोड़ने को बाध्य किया गया। ठीक उसी समय कोल्हापुर के राजा की मृत्यु हो गई और उनकी जगह पर एक अवयस्क को राजा बनाया गया। वह राजाराम की छोटी पत्नी का बेटा था। यह परिवर्तन आन्दोलन के बिना सम्भव नहीं हुआ था, जिसमें पुराने 'पन्त अमात्य' रामचन्द्र पन्त ताराबाई को अपदस्थ कर उन्हें जेल में डालने में सफल हुए थे। इन सभी बातों में शाहू ने महसूस किया कि मंत्रियों की सलाह से नैराश्य की उस स्थिति में सुधार लाने में सरलता हुई—और सुधार की प्रक्रिया उस समय शुरू हुई, जब बालाजी विश्वनाथ तथा उनके सहयोगी उनकी सेवा में सम्मिलित हुए।

इस प्रकार जब छोटी-छोटी परेशानियां खत्म हो गईं तब बालाजी ने अपना ध्यान अपने मालिक शाहू तथा मराठा सरदारों के बीच अच्छे सम्बन्ध कायम करने

की ओर लगाया। ये मराठा सरदार इतने शक्तिशाली थे कि उन्हें युद्ध अथवा छल-छद्म से वश में करना मुश्किल था। इसलिए उनके पास ऐसे प्रस्ताव भेजे गए जिससे उनकी विशाल हृदयता पर प्रभाव पड़े। उनसे कहा गया कि उनके अपने उद्देश्य की पूर्ति से पूरे राज्यसंघ का उद्देश्य पूर्ण होता है। यदि वे एकता के साथ रहते हैं तो उनकी शक्ति बढ़ती है, वे महान बनते हैं। पर यदि उनमें एक-दूसरे से अलगाव की प्रवृत्ति पैदा होगी तो वे कमजोर होंगे। इस प्रकार के प्रस्तावों का अपेक्षित परिणाम हुआ। चन्द्रसेन जाधवराव तथा निम्बालकर ने अपने को मराठा राज्यसंघ से अलग कर मुगलों का साथ दिया था। किन्तु खण्डेराव दाभाड़े, ऊदाजी पवार, पर्सोजी भोंसले तथा कुछ अन्य नेताओं ने शाहू के समर्थन में कार्य किया था। उन सभी को बड़ी सफलता के साथ सानुरोध राज्यसंघ के उद्देश्य की पूर्ति में सम्मिलित करने का प्रबन्ध किया गया। साथ ही पन्त सचिव तथा पन्त प्रतिनिधि, जो पुरानी अष्टप्रधान समिति के मुख्य सदस्य भी थे, भी इस तथ्य को स्वीकार करने लगे कि राज्यसंघ के साथ एक होने में ही उनका उद्देश्य भी पूरा होता है। उसी समय खण्डेराव दाभाड़े को सेनापति की पदवी दी गई क्योंकि उन्होंने युद्ध में तथा शाहू के शासनकाल में कई वर्षों तक देश की बड़ी सेवा की थी। इसी प्रकार पर्सोजी भोंसले को 'सेना साहब सूबा' की उपाधि देकर सम्मानित किया गया। साथ ही बरार तथा खानदेश में इन नेताओं ने जो भूमि अपने लिए जीती थी वह उन्हें निजी इस्तेमाल के लिए दे दी गई। इस प्रकार उनके सामने पश्चिम की ओर गुजरात तथा पूर्व की ओर गोंडवन देश में सफलता का जायज रास्ता खुल गया। इसी प्रकार मालवा में ऊदाजी पवार की महत्वाकांक्षा को भी पूर्ण होने दिया गया। इन नेताओं से कहा गया कि यदि वे केन्द्रीय सत्ता के साथ सहयोग करेंगे और अपनी सेनाओं को एक कर लेंगे तो दिल्ली के सम्राट से उनके दावों को वैधानिक मान्यता दिलाने की कोशिश की जाएगी। अक्कलकोट के फतेसिंह भोंसले को भी दक्षिण में कर्नाटक विजय को और आगे बढ़ाने के लिए शाहू की सेना का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। 'प्रतिनिधि' पिता तथा पुत्र ने भी पहले युद्ध के दौरान, और फिर कोल्हापुर के साथ संघर्ष की अवधि में, काफी सेवा की थी। इसी प्रकार खटाव महाराज तथा कोंकण के सिद्दियों का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। इन सभी को वारणा तथा नीरा के बीच राजा के पुराने राज्य का शासन सौंप कर सम्मानित किया गया। कान्होजी आंग्रे को मराठा सेना का मुख्य सेनापति बनाया गया; साथ ही कोंकण में उनके द्वारा अधिकृत किलों को उनके पास ही रहने दिया गया। युद्ध के दिनों में गोविन्द राव चिटनिस ने भी काम किया था। उनको भी सेना का नायक बनाया गया। इस प्रकार बड़े-बड़े नेताओं के बीच शक्ति तथा विशेषाधिकार को समुचित रूप से वितरित किया गया। उधर बालाजी विश्वनाथ शाहू के मुख्य सलाहकार के रूप में सन्तुष्ट थे। उन्हें खानदेश तथा बालाघाट के कुछ सुदूरवर्ती क्षेत्रों का अधिकार हासिल था। उनके पास न कोई शक्ति

थी और न कोई साधन, फिर भी वे आत्म-बलिदान की भावना से कार्य करते रहे। उनकी इस नीति से बड़े-बड़े नेताओं के बीच एकता स्थापित करने में काफी आसानी हुई। इससे समान सुरक्षा तथा समान रूप से मिल कर आक्रमण करने की उनकी शक्ति को बल मिला। इन देशभक्तिपूर्ण प्रयासों के फलस्वरूप देश की सेवा में समर्पित होने के दस वर्ष के भीतर ही बालाजी राष्ट्र में युक्तिसंगत एकता कायम करने में समर्थ हुए। उन्होंने मतभेद के उन तत्वों पर भी विजय पाई जिनके कारण मराठा शक्ति में विघटन पैदा होने लगा था। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं कि मुगलों के सेनाध्यक्ष तथा दिल्ली में बैठे उनके वजीर, जो अपने-अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए लड़ रहे थे वे सभी राजा शाहू के प्रति उस सम्मान की भावना रखने लगे जो परम्परा से शिवाजी तथा उनके नायकों के प्रति अपेक्षित थी। जल्दी ही दिल्ली में आपस के झगड़ों से क्षुब्ध होकर वे शाहू की मदद मांगने लगे जिससे उनके उद्देश्य की पूर्ति हो सके।

मराठा प्रभाव क्षेत्र के और अधिक व्यापक हो जाने से जिस नागरिक संविधान को शिवाजी ने अपने गद्दी पर बैठने के बाद बनाया था, उसमें संशोधन करना आवश्यक हो गया। अष्टप्रधान, अथवा सलाहकारों की प्रबन्ध समिति की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख पहले के एक अध्याय में किया जा चुका है। संभाजी के कुशासन तथा दक्खन पर औरंगजेब की विजय से संविधान का कोई अर्थ न रह गया था। निस्सन्देह राजाराम ने अपने जिंजी दरबार में उसे सुधारने की कोशिश की, पर वे युद्ध के दिन थे, और युद्ध के दिनों में पुरानी परिस्थिति में बना संविधान निरर्थक होता। समय की मांग थी कि सत्ता को, सैनिक अथवा असैनिक, मजबूत हाथों में सौंपा जाए, चाहे उस पर कितना भी खर्च आए। जिंजी पर घेराव के घटनापूर्ण दिनों में मराठा शक्ति की परामर्श समिति वस्तुतः नीरजी के हाथों में ही थी। उनकी मृत्यु के बाद जब राजाराम दक्खन लौटे तब युद्ध की कठिनाइयों के कारण वह इतने निस्तेज हो चुके थे कि सलाहकारों की 'अष्टप्रधान' समिति बेकार पड़ी रही। लड़ाई खत्म कर दी गई थी। सतारा में जब शाहू गद्दी पर बैठे तब आठ बड़े मंत्रियों की समिति को फिर से जिलाने की कोशिश की गई, पर बदली हुई परिस्थितियों में कुछ नया करना शायद उचित न होता। शिवाजी ने 'अष्टप्रधान' की स्थापना बड़ी दूरदर्शिता के साथ की थी। किन्तु वह व्यवस्था तभी चल सकती थी जब एक पूर्ण रूप से व्यवस्थित केन्द्रीय सरकार हो। किन्तु इस प्रकार की कोई सरकार नहीं थी, इसीलिए पुरानी परम्पराओं की उस समिति का कोई अर्थ नहीं रह गया था। शाहू के अन्दर पितामह के गुण नहीं थे और वह लोगों के अन्दर वह विश्वास पैदा करने में भी असमर्थ थे जो शिवाजी कर पाए थे। एक बात और यह 'अष्टप्रधान' व्यवस्था छोटी-छोटी सीमाओं में बंधे एक छोटे देश में ही कारगर हो सकती थी। पर युद्ध के बाद मराठा शक्ति नर्मदा से कावेरी तक पूरे देश में फैल गई थी और उसके नेता अपने-अपने क्षेत्रों को अधिकृत किए हुए दूर-दूर

तक मुगलो द्वारा घिरे हुए फैले थे। इसलिए 'अष्टप्रधान' की सफलता के लिए जिन पूर्व-परिस्थितियों की जरूरत थी, उनके अभाव में वह छिन्न-भिन्न हो गया। सही है कि सलाहकारों ने सतारा में शाहू के दरबार में अपनी गरिमा अभी भी बनाए रखी थी, पर सच्ची शक्ति और नियंत्रण उनके हाथ में बस नाम के लिए रह गया था। यह उस समय और भी स्पष्ट हो गया जब उनसे खानदेश में दाभाड़े की सेना को और बरार में भोसले की जीत को नियमित करने को कहा गया। मराठा क्षेत्र की सीमा के बाहर उनसे पूर्व तथा दक्षिण में मुगल गवर्नरों से भी युद्ध करने को कहा गया। मराठा देश में अलगाव की प्रवृत्ति हमेशा शक्तिशाली रही। युद्ध तथा उसके परिणामों के फलस्वरूप ये तत्व और भी मजबूत हो गए और वे गुण कमजोर पड गए जिनसे केन्द्रीय सत्ता को सफलता मिलती है। बालाजी विश्वनाथ ने महसूस कर लिया था कि अब बस एक ही व्यवस्था संभव थी—बड़े नेताओं को एक कर शिवाजी की परम्परा के आधार पर एक राज्यसंघ की स्थापना, जो विदेशी सत्ता के खिलाफ मिलकर लड़ सके। किन्तु वह संघ ऐसा हो जिसमें आन्तरिक व्यवस्था तथा नियन्त्रण के सम्बन्ध में हर सदस्य के अधिकार तथा सहयोग बराबर-बराबर हों। यही, मात्र यही, वह तरीका था जिससे उन सभी नेताओ को एक किया जा सकता था जो अपने-अपने क्षेत्रों की स्वाभाविक सीमाओं से दूर, देश के विभिन्न हिस्सों में और अपने ही साधनों के बल पर राज्य स्थापित किए हुए थे। खास मराठा क्षेत्र भी चारों ओर से सावनूर, हैदराबाद, गुजरात तथा मालवा में मुगल गवर्नरों से घिरा हुआ था। पश्चिमी तट पर भी वह सिद्दियों, पुर्तगालियों तथा अंग्रेजों से घिरा था। उन्हें अशक्त करने का एक ही उपाय था—बिखरे हुए मराठा शिविरों को एक करना और उन्हें योग्य हाथों में सौंपना। एक समान उद्देश्य की स्थापना में सभी की रुचि होती, वही उद्देश्य उन्हें एकता के सूत्र में बांध कर मजबूत कर सकते थे, पर इसके लिए जरूरी यह था कि उन्हें अपने-अपने आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र रहने दिया जाए। और यदि वे पुरानी परम्पराओं से भी बंधे रह सकें तो संघ की सुरक्षा और भी अधिक पक्की होगी। बालाजी विश्वनाथ तथा उनके सलाहकारों ने इस स्थिति को स्वीकार किया, पुराने 'अष्टप्रधान' के स्थान पर मराठा राज्य संघ की स्थापना हुई और यही राज्य संघ अगले सौ वर्षों तक सूत्रधार रहा पूरे भारत में घटी सभी मुख्य घटनाओं का।

इस योजना को उल्लेखनीय सफलता मिली, यह इस बात से स्पष्ट होता है कि इससे न केवल निकट भविष्य के उद्देश्यों की पूर्ति हुई बल्कि उससे आगे भी सौ या उससे अधिक वर्षों तक यह विषम परिस्थितियों में भी सफलतापूर्वक कार्य करती रही। इसी योजना की वजह से मराठों को गुजरात, मालवा, बुंदेलखण्ड, उड़ीसा, गोंडवन, नेमाड, कर्नाटक तथा नीचे तुंगभद्रा तक के क्षेत्रों को जीतने में सफलता मिली। इसी की वजह से वे राजपूताना के सभी राज्यों को नियंत्रित तथा दिल्ली दरबार को प्रभावित करने में सफल हुए। राष्ट्र की रुचि के अनुसार वे इसी योजना के बल पर जिसको

चाहते उसको शहंशाह की गद्दी पर बैठा देते, या उससे उतार देते। इसी की वजह से वे एक तरफ सिंध के किनारों तक बढ़ जाते तो दूसरी तरफ पूर्व की ओर बढ़ कर अवध तथा बंगाल के नवाबों को नियंत्रित करते। उन्होंने अपनी इसी योजना के बल पर हैदराबाद के निजाम द्वारा अधिकृत क्षेत्रों की सीमाएं फिर से निश्चित की। इसी प्रकार सावनूर तथा कर्नाटक के नवाब, और बाद में हैदर तथा टीपू के राज्य क्षेत्रों की हदें भी तय की गईं। इसी ने उन्हें पुर्तगालियों को भी भगाने तथा अंग्रेजों के साथ दो लड़ाइयां लड़ने में भी सफलता दिलाई। पानीपत के युद्ध की भीषण पराजय भी वे इसी की वजह से झेल पाए और फिर दिल्ली तथा उत्तर भारत में अपना शासन भी स्थापित किया। और करीब सौ वर्षों के परीक्षण के बाद जब यह योजना असफल हुई तो इसका कारण यह था कि लोग उन परम्पराओं से विमुख हो गए जो राष्ट्र संघीय शक्ति के अच्छे दिनों में उनकी मुख्य मार्गदर्शिका थीं, और संघीय आदर्श को भूल कर अपना-अपना मतलब साधने गए। राष्ट्र संघ की शक्ति का पता इस बात से भी चलता है कि इन सौ वर्षों में इसने कितनी लड़ाइयां जीतीं, और यह भी पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि इस उल्लेखनीय विकास की उपलब्धि में पुरानी 'अष्टप्रधान' व्यवस्था को सफलता न मिलती।

निस्सन्देह शक्ति के इस स्रोत में कहीं कमजोरी का एक स्रोत भी दुबका पड़ा था और उस कमजोरी का सबसे अधिक आभास था बालाजी विश्वनाथ, उनके सलाहकारों तथा उनके उत्तराधिकारियों को। समान परम्परा तथा समान देशभक्ति की भावना से न जुड़ा हो तो राज्यसंघ रेत की एक रस्सी के सिवा और क्या था? बालाजी विश्वनाथ का एक विशेष गुण यह था कि उन्होंने जहां योजना को विशेषता को समझा वहीं उसकी कमजोरियों को भी अनदेखा नहीं किया। 'अष्टप्रधान' प्रणाली को फिर से जीवित करना तो संभव न था, पर उसके स्थान पर एकता के कुछ अन्य ऐसे सूत्र भी ढूंढे जा सकते थे जिनसे एक दोषरहित संघ की स्थापना हो सकती थी। नई नीति की मुख्य विशेषताओं को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—(1) राज्य संघ के सदस्य एक-दूसरे से शिवाजी के समय की परम्पराओं के कारण जुड़े रहे। शिवाजी के पौत्र शाहू के प्रति भी अपने समान अनुराग के कारण वे एक-दूसरे से बंधे रहे। अपने शासनकाल के चालीस वर्षों में शाहू सभी नेता ो का स्नेह तथा सम्मान प्राप्त करते रहे। बालाजी विश्वनाथ ने भी उस गांठ को मजबूत बनाए रखने में अपना योग दिया जिसमें राज्य संघ के सभी सदस्य बंधे हुए थे। सैनिक एवं असैनिक नायकों को दिया गया हर प्रमाण-पत्र शाहू के नाम पर होता था और शाहू की आज्ञा से ही सनद तथा उपाधियां आदि वितरित की जाती थीं। शाहू ही सिक्के ढलवाते, हर संधि उनके नाम पर होती और हर अभियान के परिणाम की सूचना भी उन्हें ही दी जाती। (2) शाहू की इस केन्द्रीय स्थिति के अलावा भी कुछ और बातें

थी जिनके कारण राज्यसंघ बना रहा। विभिन्न सदस्यों के बीच शक्ति का बड़ा ही आनुपातिक सन्तुलन था, जिसका श्रेय था शाहू की विवेकपूर्ण मध्यस्थता को। बालाजी विश्वनाथ के समय में पेशवा का सैनिक अधिकार क्षेत्र सीमित था, यद्यपि सभी प्रशासनिक मामलों में वह शाहू के मुख्य परामर्शदाता होते थे। बाद में जब दूसरे दो पेशवाओं का समय आया तब उनके सैनिक अधिकार को बढ़ाने का प्रयास किया गया। इससे दूसरे सेनापतियों के अधिकार कम होते थे। पर शाहू की मध्यस्थता की वजह से शक्ति के वितरण में कोई गड़बड़ी नहीं आने पाई। इसलिए बंगाल तथा गंगा की घाटियों के युद्धों में पश्चिमी घाट के दाभाड़े तथा गायकवाड़ तथा नागपुर के भोंसले के बीच शक्ति का कोई असन्तुलन पैदा नहीं होने पाया। बाद में शिंदे तथा होलकर परिवारों द्वारा जब असन्तुलन पैदा करने की कोशिश हुई तब भी प्रयास कर ऐसा नहीं होने दिया गया। ये दोनों कुल आपस में झगड़ते रहे; पेशवा, गायकवाड़ तथा भोंसलों से भी उनका मतभेद था। दाभाड़े तथा उनके उत्तराधिकारी गायकवाड़, खुद पेशवा तथा उनके सहायक शिंदे एवं होलकर, बाद में आए बुन्देले, विंचुरकर तथा पटवर्धन—ये सभी लगभग सौ वर्षों तक मिलकर काम करते रहे और एक-दूसरे के प्रति विश्वास बनाए हुए थे। ये सभी शक्तियां एक-दूसरे के अधिकार का सम्मान करती रहीं और किसी भी एक शक्ति को किसी दूसरी से बड़ी न कह कर पारस्परिक बर्बादी से बचती रहीं। मराठा राज्य संघ के इन सौ वर्षों की सफलता का मूल मंत्र भी यही था—पारस्परिक सहयोग की भावना तथा एक-दूसरे की स्थिति के प्रति आदर की भावना। विभिन्न शक्तियों में बराबरी की इस भावना को सनदों तथा संधियों के माध्यम से कायम रखा गया। बालाजी बाजीराव के काल में दिल्ली के सम्राट के साथ हुई मशहूर संधि का भी इसमें काफी योगदान था। बराबरी की इस संधि में पेशवा के दोनों सहायक गवाह थे। सम्राट के प्रति पेशवा की आस्था का जिम्मा भी उन्हीं का था। यदि पेशवा अपने प्रण से विमुख होता तो उन्हें उसका साथ छोड़ देना पड़ता। इसलिए राज्यसंघ के पीछे यही मूल भावना थी कि सभी सदस्य मिलकर शक्ति का सन्तुलन बनाए रखें ताकि सभी का भला हो। इसी वजह से यह राज्यसंघ कई पीढ़ियों तक बना रहा। (3) राज्यसंघ की एकता के पीछे ये दो भावनात्मक तथा देशभक्तिपूर्ण कारण तो थे ही, कुछ वजहें और भी थीं। बालाजी विश्वनाथ ने एक सावधानी बरती थी। उन्होंने उन पर एक और मजबूत गांठ लगाई थी। उन्होंने समझा रखा था कि उन शक्तियों के भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति उनके अपने-अपने कर्तव्यों को समान रूप में करते रहने पर निर्भर है। दिल्ली में अपनी कूटनीति के आधार पर जब वह दक्कन में 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' वसूल करने की अनुमति पाने में सफल हुए, तब व्यवस्था यह की गई कि वसूली का काम शाहू की सलाहकार समिति के दो मुख्य अष्टप्रधानों तथा उनके बीच इस प्रकार बंटे कि आन्तरिक संघर्ष का कोई मौका न रह जाए। प्रतिनिधि, पेशवा तथा पंत सचिव को 'बबती' के लिए

वसूली अधिकारी नियुक्त किया गया। वे 'वतनों' की वसूली भिन्न-भिन्न अनुपातों में अपने निजी क्षेत्रों से दूर करते थे। जब 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' की वसूली दक्कन सूबों की सीमा के बाहर भी की जाने लगी, तब भी इसी सिद्धान्त का पालन किया गया। अधिकारों का वितरण इस प्रकार किया गया कि सब के हितों की रक्षा समान रूप से होती रहे। (4) मुख्य मराठा देश में बड़े-बड़े सेनानायकों को 'इनाम' तथा 'वतन' दिए गए थे। इस प्रकार उनकी वफादारी को खरीद लिया गया था। इन्हें वे उत्तराधिकार में भी छोड़ सकते थे, जो कि ये 'वतन' तथा 'इनाम' उनके अपने मूल क्षेत्रों अथवा शिविरों से दूर होते थे। (5) ये भौतिक लाभ तो थे ही, सभी सेनानायकों का एक सामान्य दायित्व यह भी था कि वे सरकारी खजाने को अपने शासन का हिसाब आदि देते रहें। इसके लिए एक केन्द्रीय 'फड़नीस' अथवा सचिवालय विभाग बना हुआ था। वहीं लेखा का ब्यौरा दिया जाता था और जाँच-पड़ताल की जाती थी। (6) केन्द्रीय खजाना तथा लेखा विभाग तो थे ही, हर सेनाध्यक्ष, वह चाहे छोटा हो या बड़ा, के साथ केन्द्र द्वारा नियुक्त एक अधिकारी भी होता था। यही लेखा अधिकारी होता था, उसका दायित्व सीधे केन्द्रीय सत्ता के प्रति था और उसी के माध्यम से व्यय आदि के ब्यौरे की जाँच-पड़ताल के लिए भेजा जाता था। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार ने हर अध्यक्ष के साथ एक अधिकारी नियुक्त कर रखा था। वही अधिकारी केन्द्र को अनियमितताओं आदि की शिकायत भी भेजता था। इन अधिकारियों को 'दरकदार' कहते थे। बड़े-बड़े नेताओं के साथ नियुक्त अधिकारी दीवान, मजुमदार तथा फड़नीस होते थे; छोटे गढ़ों आदि के अध्यक्षों के साथ नियुक्त अधिकारी सबनीस, चिटनिस, जमींदार तथा कारखानिस होते थे। उनका कार्यक्षेत्र लेखा तक सीमित था। स्थानीय सेनाध्यक्षों के व्यय आदि का ब्यौरा रखने का अधिकार केवल उन्हीं को था और उन्हें केन्द्रीय विभागीय अध्यक्ष की अनुमति के बिना हटाया नहीं जा सकता था।

इस प्रकार इन छः तरीकों से बालाजी विश्वनाथ ने अपनी ओर से शाहू द्वारा स्थापित राज्यसंघ की प्रणाली की कमियों को दूर करने का पूरा प्रयास किया। ये प्रबन्ध अपने मौलिक रूप में जब तक बने रहे, तब तक केन्द्रीय सत्ता भी इतनी शक्तिशाली बनी रही कि वह पूरी शासन व्यवस्था पर अपना नियंत्रण बनाए रखने में सफल थी। पतन एवं विघटन के बीज भी अवश्य काफी सक्रिय थे पर उन्हें लगभग सौ वर्षों तक फैलने-बढ़ने से रोका जा सका था। माउंट स्टुअर्ट एल्फिस्टन तथा उसके सहयोगियों के अनुसार, इस व्यवस्था में सिद्धान्त रूप से कई खामियाँ थीं, पर इसमें सन्देह नहीं कि इसके माध्यम से शान्ति तथा सम्पन्नता उत्पन्न करने में सफलता मिली थी। इसी की वजह से पड़ौसी देश भी मराठा शक्ति से डरते और उसका सम्मान करते थे। नियंत्रण के इन सभी बिन्दुओं के पीछे केन्द्रीय सत्ता का समर्थन था, और

उसके बिना उन्हें सफलता के साथ कार्यान्वित भी नहीं किया जा सकता था । बालाजी विश्वनाथ के जीवन के आखिरी वर्ष इसी लक्ष्य को उपलब्ध करने में बीते—अर्थात् दिल्ली के सम्राटों से मराठों के इस दावे को मान्यता दिलाना कि 'स्वराज्य', 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' वसूल करने का मराठा राज्यसंघ का अधिकार पूरे साम्राज्य पर है। उनके इस दावे के वैधानिक मान्यता प्राप्त हो जाने से यह अन्तर आया कि जो वह बलपूर्वक छीन-झपट कर लेते थे, वह अब उनका अधिकार मान लिया गया था। *बालाजी विश्वनाथ की संगठन प्रतिभा की यही सर्वोच्च कृति थी,* और यद्यपि इसकी सफलता में कई अन्य लोगों का भी योगदान था, फिर भी यह उपलब्धि महत्व की दृष्टि से केवल शिवाजी की उपलब्धियों के बाद आती है—शिवाजी, जो मराठा राज्यसंघ के मुख्य संस्थापक थे ।

अध्याय 11

चौथ और सरदेशमुखी

पिछले अध्याय में यह बताने का प्रयास किया गया कि प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ की सर्जनात्मक प्रतिभा तथा धैर्यपूर्ण कुशलता के फलस्वरूप किस तरह अव्यवस्था में व्यवस्था का विकास किया गया। इस एक बात से उन बहुत सी अन्य बातों का भी पूर्वानुमान हो जाता है जो बाद में घटित होने वाली थी, और उस अभूतपूर्व परिवर्तन का भी पता चलता है जिसके दौरान शिवाजी के छोटे से राज्य को एक संघ परम्परा तथा एक ही उद्देश्य से प्रेरित अनेक राज्यों का एक बड़ा संघ स्थापित करने में सफलता मिली। बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु 1720 में हुई। उसके पहले ही उन्होंने मराठा नेताओं के बड़े-बड़े दावों को उचित मान्यता दिलवाने में सफलता पा ली थी। शाहू के शक्ति में आने के बाद जो परिवर्तन हुए थे उनमें यह आवश्यक था। सत्ता के इस हस्तान्तरण की कहानी के पीछे कुछ ऐसी विशेषताएं थी जिनकी तुलना भारत के पुराने इतिहास में नहीं। इसकी तुलना अधिक ईमानदारी के साथ इस सदी के शुरू में वेलेजली द्वारा प्राप्त की गई सफलताओं से ही की जा सकती है। उसने देशी शक्तियों के साथ सहायक अथवा पूरक राज्यों की एक ऐसी संगठन प्रणाली निर्मित की जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश कम्पनी को पूरे भारतीय प्राय द्वीप की राजसत्ता प्राप्त हो गई। वेलेजली की यह पूरक राज्य व्यवस्था वास्तव में सौ साल पुरानी उस मराठा प्रणाली की ही अनुकृति थी जिसके अन्तर्गत उन्हें दिल्ली के शाही अधिकारियों से 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' प्राप्त करने की अनुमति मिली थी। 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' के उनके दावे को मुगल सम्राट ने 1719 में स्वीकार किया था। आइए, उन दावों की एक संक्षिप्त ऐतिहासिक समीक्षा कर लें, क्योंकि उसके बिना उन मांगों को जिन्हें मराठा शक्ति के संस्थापक ने पचास साल पहले अपने जीवन वृत्त के प्रारम्भिक काल में ही पेश किया था, समझना कठिन होगा। इन मांगों का सबसे पहला उल्लेख 1650 में मिलता है। उस समय शिवाजी का राज्य-क्षेत्र पूना तथा सूपा में पिता की जागीर तथा आसपास के कुछ गढ़ों तक सीमित था। लगता है कि मराठा देश में 'सरदेशमुखी वतन' प्राप्त करना शिवाजी की महत्वाकांक्षा थी। दो पीढ़ियों तक उनके परिवार का मान-सम्मान था। वह शक्तिशाली भी था।. किन्तु फिर भी उनके पिता अथवा पितामह प्राचीन देशमुखी परिवारों के साथ समानता का दावा नहीं कर पाए थे। उन कुछ परिवारों में उनके

परिवार के साथ विवाह सम्बन्ध भी स्थापित हुए थे। ये परिवार थे मालवाड़ी के घाडगे, फल्टन के निम्बालकर, जट के डफले तथा सावंतवाड़ी के भोंसले। इन सभी देशमुखों को आदिलशाही तथा निज़ामशाही राज्यों की स्थापना के साथ ही साथ पैतृक 'वतन' मिला था। देशमुख के रूप में अमन तथा शान्ति कायम करने की भी उन्हीं की ज़िम्मेदारी थी। मालगुज़ारी की वसूली का काम भी उन्हीं का था। *वसूली का दस प्रतिशत उन्हें अपने इस्तेमाल के लिए मिलता था।* इसमें पाच प्रतिशत के बदले कृषि योग्य भूमि दी जाती थी। स्वाभाविक है कि शिवाजी इसी प्रकार का सरदेशमुखी वतन प्राप्त करने को उत्सुक होते। सम्राट शाहजहा के सामने उन्होंने अपनी यह माग सबसे पहले 1650 में रखी जिसके अनुसार उन्होंने जुन्नर तथा अहमदनगर के प्रान्तो में सरदेशमुखी प्राप्त करने की अनुमति चाही। उनका कहना था कि उन पर उनके परिवार का पैतृक 'वतन' अधिकार था। उन्होंने यह भी कहा कि यदि उनकी यह माग स्वीकार कर ली गई तो वह अपने पांच हज़ार घुड़-सवारों के साथ मुगल सेना में सम्मिलित हो जाएंगे। *शाहजहा ने कहा कि उनकी* इस माग पर तभी विचार हो सकता है जब वह दिल्ली आकर अपने प्रस्ताव को उसके सामने व्यक्तिगत रूप से रखें। उसके बाद 1657 में जब दक्कन पर औरंगज़ेब का अधिकार था तब उन्होंने अपनी शर्त को एक बार फिर पेश किया। इस बार प्रस्ताव में यह कहा गया कि औरंगज़ेब अपने पिता से इजाज़त लेकर दाभोल में शिवाजी को एक सेना एकत्र करने की अनुमति दे ताकि दक्कन से औरंगज़ेब की अनुपस्थिति में वह उसकी ओर से उसके दो प्रतिद्वन्द्वी भाइयों के साथ युद्ध कर सके। *औरंगज़ेब के पास रघुनाथ पंत तथा कृष्णा जी को राजदूत बनाकर भेजा गया और* उनसे कहा गया कि वे सरदेशमुखी के दावे को उसके सामने फिर से रखें। कोंकण की विजय के लिए शिवाजी को जिस अधिकार की आवश्यकता थी, वह उन्हें दे दिया गया और सरदेशमुखी के सवाल पर औरंगज़ेब ने शिवाजी के विश्वसनीय सलाहकार आबाजी सोनदेव के साथ उनके दिल्ली आने पर बातचीत करने का वादा किया।

इन दावों का उल्लेख तीसरी बार उस समय किया गया जब 1666 में पुरन्दर सम्मेलन में शिवाजी तथा राजा जयसिंह के बीच बातचीत चल रही थी। *शिवाजी ने उसी अवसर पर अपने सारे* गढ़ों को सौंपना तथा समर्पण-सम्बन्धी दूसरी औपचारिकताओं के लिए दिल्ली जाना भी स्वीकार किया था। उसी सम्मेलन में शिवाजी ने इस बात की भी माग की थी कि जिन भू-क्षेत्रों को निज़ामशाही राजाओं से जीतकर उन्होंने बीजापुर राज्य में शामिल किया था उनके बदले में निज़ामशाही सरकार पर उनका पैतृक हक होता है और उन्हें कुछ मिलना चाहिए। इस सम्मेलन में पहली बार उन्होंने न केवल 'सरदेशमुखी' किन्तु 'चौथ' की माग भी पेश की

माग के साथ 'चौथ' का दावा भी जोड़ दिया गया। इस नई माग में उन सभी शक्तियों का भी सहयोग था जिनकी सुरक्षा का दायित्व लिया गया था और जिसके बदले *उन्हें अतिरिक्त सेना के खर्च के लिए हर वर्ष एक निश्चित धनराशि भी देनी* पड़ती थी। यही वह योजना थी जिसे मौलिक रूप से सबसे पहले शिवाजी ने चलाया और जो एक सौ पच्चीस साल बाद वेलेजली के हाथों इतनी कारगर सिद्ध हुई।

जब स्वतन्त्रता की लड़ाई समाप्त हो चुकी और कर्नाटक, गंगथड़ी, बरार, खानदेश तथा गुजरात और मालवा की सीमाओं पर मराठा नेताओं की जड़ें मजबूत हो गई तब 'सरदेशमुखी' के सिद्धान्त को और व्यापक किया गया। मुगल गवर्नरों के साथ बालाजी विश्वनाथ तथा शाहू के सलाहकारों की बातचीत हुई जिसमें उस सिद्धान्त को परिवर्तित-परिवर्धित करना जरूरी समझा गया। युद्ध जब तक चलता रहा, तब तक कोई समझौता हो नही सकता था। और जब वह समाप्त हो गया तब नेताओं ने सबसे पहले 'स्वराज्य' की मांग की—अर्थात् शाहू को वे सारे क्षेत्र लौटा दिए जाएं जो उनके पितामह के पास रायगढ़ में 1674 के अभिषेक के समय थे। राजाराम की मृत्यु के बाद औरंगज़ेब' ने 'स्वराज्य' के प्रति शाहू के अधिकार को पहली बार माना। विवाहोपहार स्वरूप उसने शाहू को सूपा तथा इन्दापुर की अपनी पुरानी जागीर और अक्कलकोट तथा नेवासा के अपने महल दिए। उसने बाद में शाहू को उकसाया कि वह मराठा नेताओं को पत्र लिखकर युद्ध बन्द करने तथा सम्राट के सामने हथियार डालने को कहे। शाहू के माध्यम का औरंगजेब द्वारा यह इस्तेमाल यह साबित करता है कि उसने उन्हें उन मराठों के नेता के रूप में स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया था जो उस समय मुगलों से लड़ रहे थे। युद्ध को समाप्त करने के विचार से 1705 में औरंगज़ेब इस बात पर राजी हो गया कि वह दक्कन के छः सूबों से प्राप्त मालगुजारी का 10 प्रतिशत 'सरदेशमुखी' के रूप में देगा। बदले में मराठा सेनाध्यक्ष ने भी यह माना कि वे शान्ति तथा अनुशासन बनाए रखने के लिए घुड़सवारों का एक दस्ता कायम करेंगे। 'सरदेशमुखी' का अपना दावा शिवाजी ने पहले-पहल पचास साल पूर्व रखा था, जिसे औरंगज़ेब की पहली औपचारिक मान्यता अब मिली। पर इन प्रस्तावों का कोई नतीजा न निकला, क्योंकि मराठा नेताओ ने अपनी शर्तें बढ़ा दी और युद्ध अन्त तक चलता रहा। औरंगजेब के मर जाने के बाद उसके बेटे चाहते थे कि युद्ध समाप्त हो, क्योंकि उस समय उनके अपने, एक दूसरे को बरबाद कर देने वाले झगड़े भी चल रहे थे। इसलिए शाहू को छोड़ दिया गया और उन्हें अपने देश लौट जाने की अनुमति भी मिल गई। उनसे यह भी कहा गया कि यदि वह दक्कन पर अपनी शक्ति कायम करने में सफल हुए तो मुगल सेनाध्यक्ष जुल्फ़िकारखा तथा बादशाह के बटे अजीमखां, शिवाजी द्वारा जीते गए क्षेतों को उन्हें वापस कर देंगे और भीमा

तथा गोदावरी के बीच कुछ और जागीरें भी प्रदान की जाएगी। शाहू के सतारा में बस जाने के बाद दक्कन के मुगल गवर्नर दाऊदखां ने मराठा नेताओं से एक औपचारिक समझौता किया जिसके अनुसार उन्हें कुछ प्रान्तों का 'चौथ' अथवा राजस्व का चौथा हिस्सा देना स्वीकार किया। यह भी निश्चित हुआ कि 'चौथ' की वसूली का काम शाहू के अपने आदमी करेंगे। यह प्रबन्ध 1709—1713 तक चार वर्ष चला, जब दाऊदखां को गवर्नर के पद से हटा दिया गया और उनके स्थान पर निजाम-उल-मुल्क को सूबेदार नियुक्त किया गया। निजाम ने दाऊदखां द्वारा किए समझौते पर चलने से इनकार कर दिया, लड़ाई छिड़ी और 1715 तक चलती रही, फिर एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत मुगल सेना में शाहू को पन्द्रह हजार घोड़ों का सेनाध्यक्ष नियुक्त किया गया। नए बादशाह ने निजाम-उल-मुल्क को दक्कन से बुला लिया और उनकी जगह एक सैयद को गवर्नर नियुक्त किया। अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए इस सैयद सूबेदार ने मराठों के वरिष्ठ ब्राह्मण नेता शंकराजी को नियुक्त किया। वह उस समय अवकाश प्राप्त कर बनारस में रह रहे थे। उन्होंने जिंजी के युद्ध में भी कार्य किया था। राजदूत बनाकर उन्हें शाहू के दरबार में भेजा गया। एक ओर से शंकराजी थे और दूसरी ओर से थे बालाजी विश्वनाथ। इन दोनों की बातचीत के परिणामस्वरूप यह निश्चित हुआ कि 'स्वराज्य' को फिर से चालू कर दिया जाए तथा दक्कन के छः सूबों में 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' की मांग स्वीकार कर ली जाए। यह भी तय पाया गया कि कर्नाटक की पुरानी जागीर को लौटा दिया जाए तथा बरार में नागपुर के भोंसले की जीतों को मान्यता दे दी जाए। शाहू ने अपनी ओर से बादशाह को दस लाख रुपये की 'पेशकश' देना स्वीकार किया। उन्होंने यह भी माना कि लूटमार बन्द कर हर तरफ अमन तथा शान्ति कायम रखी जाएगी और वह पच्चीस हज़ार घोड़ों की एक सेना बनाएंगे जो कि बादशाह की सेवा में गवर्नरों, फौजदारों तथा दक्कन के जिलों के अन्य अधिकारियों के अधिकार में होगी। बालाजी विश्वनाथ ने इन शर्तों को अपने मालिक शाहू की ओर से रखा जो शंकराजी के माध्यम से सैयद तक पहुंचाई गई। वह सभी शर्तों को मान गया और समझौते का एक मसौदा तैयार किया गया। मसौदे में उसने एक प्रस्ताव यह भी रख दिया कि दक्षिण भारत के मैसूर, त्रिचनापल्ली तथा तंजौर क्षेत्र जो अभी उसके अधिकार में नहीं हैं, उन्हें शाहू अपने साधनों तथा अपने खर्च पर हासिल करेंगे। शाहू ने तुरन्त सैय्यद की सेना के साथ दस हज़ार घोड़ों की एक टुकड़ी भेजी। सभी महत्वपूर्ण मराठा नेताओं ने उनका साथ दिया। उन नेताओं में मुख्य थे सन्ताजी भोंसले जो सेना साहब सूबा के सम्बन्धी थे, ऊदाजी पवार तथा विश्वराव आठवले। जब सैयद द्वारा माने गए समझौते को बादशाह की अनुमति के लिए उनके सामने रखा गया तब उसने अनुमति देने से इन्कार कर दिया और यह तर्क दिया कि वह सैयद की राय को मानने को बाध्य नहीं है। इस पर सैयद तुरन्त दिल्ली गए। उनके साथ

पन्द्रह हज़ार मराठों की एक सेना भी थी। उस सेना में खण्डेराव दाभाड़े, बालाजी विश्वनाथ, महादजी भानू तथा कुछ अन्य नेता शामिल थे। थोड़े विरोध के बाद, जिसमें सन्ताजी भोंसले तथा महादजी भानू सड़क पर हुए एक झगड़े में मारे गए, बादशाह को भी मार डाला गया। उसके उत्तराधिकारी ने 'स्वराज्य', 'सरदेशमुखी' तथा 'चौथ' के लिए तीन सनदें दी जिन्हें बालाजी विश्वनाथ ने शाहू की ओर से स्वीकार किया।

इस प्रकार 70 वर्षों के अनवरत संघर्ष के बाद शिवाजी के उस लक्ष्य को पूरा किया जा सका जिसे उन्होंने सबसे पहले 1650 में निर्धारित किया था। यह नेताओ द्वारा शाहू के परामर्शों के सफलतापूर्वक पालन से ही सम्भव हुआ। सिर्फ पुराना 'स्वराज्य' ही वापस नही मिला, बल्कि उसमे उन क्षेत्रो को भी शामिल कर लिया गया जो बाद मे जीते गए थे और भविष्य मे जीते जाने वाले क्षेत्रो के लिए भी समुचित प्रावधान दिया गया। 'स्वराज्य सनद' मे जिन देशो को सम्मिलित किया गया उनमें घाटो के ऊपर के तमाम क्षेत्र, हिरण्यकेशी नदी तथा इन्द्रायनी के बीच के शिवाजी द्वारा जीते गए सभी पुराने हिस्से तथा पूना, सतारा और कोल्हापुर शामिल है। इनमे पूना, सूपा, बारामती, मावल, इन्दापुर, जुन्नर, वाई, सतारा, कन्हाड़ खटाव, मण्ड, फल्टन, तरला, मल्कापुर, आजरे, पन्हाला तथा कोल्हापुर क्षेत्र थे। पूर्व की ओर स्वराज्य का विस्तार भीमा तथा नीरा नदियो की घाटियों मे दूर-दूर तक फैला हुआ था। स्वराज्य के अन्तर्गत घाट के निचले क्षेत्रो मे उत्तरी तथा दक्षिणी कोकण, रामनगर, जव्हार, चौल, भिवण्डी, कल्याण, राजापुर, दाभोल, राजापुरी, फोण्डा, उत्तर कनारा का एक हिस्सा, अकोला तथा कुदुगल क्षेत्र थे। सुदूर दक्षिण मे गदग मे हल्याल, बेलारी तथा कोपल को शिवाजी ने तजौर तथा जिंजी के साथ अपना सम्पर्क बनाए रखने के लिए अपने पास रखा था। शिवाजी द्वारा उत्तर पूर्व की ओर अधिकृत क्षेत्रो मे संगमनेर, बगलान, खानदेश तथा बरार की दूर-दूर तक बिखरी हुई चौकियां थी। यह पूरा का पूरा सकरा, बिखरा और फैला हुआ क्षेत्र 'स्वराज्य' के अन्तर्गत आया और इसे शाहू को दे दिया गया। खानदेश को अवश्य ही मुगलो ने अपने पास रख लिया था, जिसके बदले में इन्हे भीमा की घाटी के पढरपुर वाले क्षेत्र की ओर एक दूसरा हिस्सा दे दिया था। जिन छ सूबों से उन्हे 'चौथ' वसूल करने का अधिकार दिया गया था, उनमे बरार, खानदेश, औरगाबाद, बीदर, हैदराबाद तथा बीजापुर के कुछ क्षेत्र शामिल थे। साम्राज्य के लेखानुसार छ. सूबों से कुल अठारह करोड रुपये की वसूली का अनुमान था जिसका दसवा हिस्सा 'सरदेशमुखी' और चौथा हिस्सा 'चौथ' होता। बालाजी विश्वनाथ को पूरा विश्वास था कि बादशाह द्वारा इन मांगो को स्वीकृति दिए जाने के अलावा देश मे शान्ति कायम करने का कोई और रास्ता नही था। जिस प्रबन्ध के अन्तर्गत विभिन्न सेनाध्यक्षो ने दक्कन के विभिन्न

भागों में अपनी शक्ति स्थापित कर ली थी उसमें भी कोई स्थायित्व नहीं था। हर बड़ा नेता इस तथ्य के प्रति जागरूक था कि पुराने तथा नए के बीच सम्बन्ध स्थापित करना सभी के हित में है। उन्हें यह भी आवश्यक लगा कि मुगल गवर्नरों तथा फौजदारों, हर प्रकार के नागरिक शासकों तथा मराठा सेनाध्यक्षों के बीच भी सम्बन्ध होना चाहिए। 'सनद' तथा 'चौथ' के समझौतों के अन्तर्गत शाहू को बादशाह की सेवा में पन्द्रह हजार घोड़ों की सेना का प्रबन्ध करना ही था। उन्हें भिन्न-भिन्न जिलों में मुगल गवर्नरों के अधिकार तथा नियंत्रण में नियुक्त करना था। 'चौथ' को 'सरदेशमुखी' की तरह 'वतन' नही माना गया था। उसका भुगतान देश की सुरक्षा के लिए तथा आक्रमणों के विरुद्ध की गई सेवा के फलस्वरूप होना था। यदि 'सनद' में उल्लिखित राशि के बराबर रकम हर सूबे से मिलती तो कुल राशि साढे चार करोड़ होती। किन्तु औरंगजेब के हमलों तथा उसकी जीतों के कारण देश उजड़ चुका था, इसलिए वास्तविक वसूली इसकी एक चौथाई भी नही थी। 'चौथ' के लिए पच्चीस प्रतिशत की राशि उस अनुमान पर निश्चित की गई थी कि साम्राज्य की स्थानीय शासन व्यवस्था पर कुल वसूली के चौथाई भाग से अधिक खर्च नहीं होगा। 'चौथ' की वसूली का काम मराठा नेताओं का दायित्व था। उनकी यह मांग इस विश्वास पर स्वीकृत की गई थी कि दिल्ली के केन्द्रीय अधिकारियों के हाथ में कुल वसूली का पचहत्तर प्रतिशत अवश्य पहुंचेगा। पर देश की गिरी हुई स्थिति के कारण जो कुछ भी मिला वह बस 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' के लिए ही पर्याप्त था और शाही खजाने के हिस्से में कुछ भी नहीं पड़ा। इसलिए यह विषय सनदों के बावजूद क्षोभ का कारण बना रहा। मराठा सेनाएं जहा-जहा भी शक्तिशाली साबित हुई, वहा राजा की यह 'बबती', अर्थात् 10 प्रतिशत 'सरदेशमुखी' तथा 25 प्रतिशत 'चौथ' की वसूली कड़ाई के साथ की गई। बाकी के 75 प्रतिशत की वसूली का काम पुराने गवर्नरों के ऊपर छोड़ दिया गया पर वे उसे वसूल करने में असमर्थ रहे, और इस प्रकार धीरे-धीरे शक्ति का संचय मराठों के हाथ में होता रहा।

शक्ति का यह हस्तान्तरण संघर्ष के बिना नही हुआ। बादशाह तो केवल 'सनद' दे सकता था, पर उस पर अमल कराना गवर्नरों के बूते के बाहर की चीज थी। सैयद के पतन के बाद निजाम-उल-मुल्क दक्कन के सूबेदार हुए। बादशाह ने जो रियायतें दबाव में आकर दी थी, वह हमेशा उनके खिलाफ रहे। अगले बीस वर्षों तक निजाम के साथ मराठों का लगातार संघर्ष चलता रहा। उस संघर्ष में बालाजी विश्वनाथ के पुत्र बाजीराव, जो दूसरे पेशवा थे, ने काफी ख्याति अर्जित की। निजाम ने पहले तो टालमटोल किया किन्तु फिर बादशाह द्वारा शाहू को दी गई छूटों को मान गया। सैयदों के पतन के बाद निजाम कोल्हापुर राजा का पक्षधर हो गया और उसकी सुरक्षा

का दायित्व स्वीकार किया। साथ ही उसने शाहू की सरकार के विरुद्ध अपने प्रतिद्वन्द्वी दावे पेश किए। बाजीराव को उस स्थिति से उबरने में सफलता मिली और 1722 में उन्होंने एक नया 'फरमान' हासिल किया। बाद में शाहू द्वारा वसूल किए जाने वाले 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' के खिलाफ निजाम ने एक बार फिर संघर्ष छेड़ा। उसका तर्क यह था कि शाहू अपने इस आश्वासन को पूर्ण करने में असफल रहे हैं कि वह दक्कन में अमन कायम रखेंगे। गलतफहमियां पैदा हुई और विरोध को दबाने के लिए बल का प्रयोग करना पड़ा। कुछ क्षेत्रों का लेन-देन हुआ, हैदराबाद के आसपास के कुछ हिस्सों को 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' से मुक्त कराया गया पर अन्त में निजाम को बादशाह द्वारा दी गई मान्यता को स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा। 1730 में कोल्हापुर के राजा से मिलकर निजाम ने एक बार फिर आपत्ति उठाई। कहा गया कि 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' में कोल्हापुर के राजा का भी हिस्सा है। किन्तु पेशवा की कुशल रणनीति के सामने निजाम को एक बार फिर मुंह की खानी पड़ी और कोल्हापुर के राजा को उसने जो सरक्षण दिया था उसे वापस लेना पड़ा। शाहू के सेनाध्यक्ष, प्रतिनिधि से राजा को स्वय हार खानी पड़ी। फिर सतारा तथा कोल्हापुर के राजाओं के बीच एक अन्तिम संधि हुई जिसके अनुसार शाहू को 'चौथ', 'सरदेशमुखी' तथा दक्कन के छ. सूबों में 'स्वराज्य' का एकमात्र स्वामी माना गया। कोल्हापुर के राजा को वारणा के दक्षिण तुगभद्रा नदी तक के हिस्से से ही संतोष करना पड़ा। 1732 तक सम्राट द्वारा दी गई रियायतों को छोड़ तीन लड़ाइयों और दो संशोधनों के बाद हमेशा के लिए मान्यता मिल गई और उन्हें मानना संघर्षरत शक्तियों के लिए भी अनिवार्य कर दिया। झगड़े की हर जड़ को उखाड़ फेंका गया। बाद में निजाम तथा मराठा नेताओं के बीच लड़ाइयां चलती रही पर उन लड़ाइयों में कभी इन रियायतों को मुद्दा नहीं बनाया गया। 1743 में मराठा नेताओं तथा उस समय के निजाम सलाबतजंग के बीच एक संघर्ष छिड़ा। निजाम की हार हुई तथा खानदेश और नासिक के बीच का सारा हिस्सा दोनों शक्तियों के मध्य एक सन्धि द्वारा मराठा क्षेत्र में शामिल कर लिया गया। 1760 में एक बार फिर संघर्ष छिड़ा, निजाम की सेनाओं के विरुद्ध मराठा शक्तियां विजयी रहीं और अहमदनगर तथा अहमदनगर किले के बीच के सभी हिस्से पेशवा के राज्य में सम्मिलित कर लिए गए। 1790 में भी इसी प्रकार के मतभेद पैदा हुए और शोलापुर तथा बीजापुर के जिले पेशवा के अधिकार में आ गए। कर्नाटक में मराठों का झगड़ा निजाम से नहीं, सवनूर के नवाबों से था। पेशवा बाजीराव तथा उनके पुत्र बालाजी को इन नवाबों से तीन लड़ाइयां लड़नी पड़ी, जिसके फलस्वरूप बीजापुर, बेलगांव और धारवाड़ के जिले उनके राज्य में सम्मिलित हो गए। कर्नाटक के साथ ये लड़ाइयां सवनूर के नवाबों की पराजय के बाद भी हैदर तथा उसके बेटे टीपू से लड़नी पड़ी जो 1760 तथा 1790 के बीच मैसूर में सशक्त हो रहे थे। एक के बाद एक लड़ी जाने वाली

इन लड़ाइयों के परिणामस्वरूप मैसूर के शासकों की हार हुई और मराठों का राज्य क्षेत्र तुंगभद्रा तक बढ़ गया। इसी प्रकार चिमाजी अप्पा बाजीराव पेशवा के भाई और पुर्तगालियों तथा जंजीरा में सिद्दियों के साथ हुई लड़ाई में बालाजी बाजीराव तीसरे पेशवा ने भी विजय प्राप्त की। इसी प्रकार इस सदी के दौरान, विभिन्न लड़ाइयों के बाद, लगभग पूरा का पूरा मराठा देश मराठा राज्यसंघ के सदस्यों के हाथ में था। यह सब हर लड़ाई में मराठों की विजय का परिणाम तो था ही, साथ ही इनके मूल में 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' का अधिकार मिल जाना भी था। राज्य-क्षेत्र के इस प्रकार से विस्तृत हो जाने से 'स्वराज्य' शब्द का अर्थ भी व्यापक हो गया। 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' का वसूली क्षेत्र भी बढ़ गया और वह छः सूबों तक सीमित न रह कर बीस साल के अन्तर्गत उसी सिद्धान्त के आधार पर लगभग पूरे साम्राज्य में फैल गया। अब उसकी सीमा में आने वाले क्षेत्र थे— गुजरात, काठियावाड़, मालवा, राजपूताना, बुन्देलखण्ड, दोआब, गोंडवाना, सम्बलपुर, उड़ीसा, आगरा, दिल्ली, अवध तथा बंगाल। शक्ति तथा प्रभाव के इस विस्तार के बारे में अगले अध्याय में बताया जाएगा। उनकी मुख्य विशेषताएं वही थीं जो इस अध्याय में बतलाई गई हैं। 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' के अधिकारों के मिल जाने से शक्ति के विस्तार से मराठों को एक प्रकार से उसी औचित्य की प्राप्ति हुई जो पिछली शताब्दी में ब्रिटिश सरकार की जीतों से कारण ब्रिटिश सरकार को प्राप्त हुआ था। विस्तार की इस पूरी कहानी में सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि राज्यसंघ के सदस्यों को ये विजयें अलग-अलग लड़ाइयों के फलस्वरूप नहीं, बल्कि एक साथ मिलकर संघर्ष करने से प्राप्त हुईं। इसके विपरीत कोल्हापुर तथा तंजौर में अलगाव की नीति का पालन किया गया था, जिसका नतीजा यह हुआ था कि ये दोनों क्षेत्र मूल धारा से अलग-थलग पड़ गए थे। यह मूल धारा थी 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' का अधिकार जो पेशवाओं, गायकवाड़ों, सिंधियों, होल्करों, भोंसलों, विंचुरकरों तथा पटवर्धनों 'और बुन्देलों आदि राज्यसंघ के सदस्यों को मिला था। एक स्मरणीय अवसर पर शाहू के परामर्शदाताओं ने इस सवाल पर बड़ी गंभीरता के साथ विचार किया था कि पेशवा बाजीराव की विस्तार की नीति का अनुसरण किया जाए अथवा, जैसा कि प्रतिनिधि का प्रस्ताव था, इस सम्बन्ध में सावधानी बरती जाए। पेशवा की वाकपटुता से प्रभावित होकर शाहू ने मिलकर संघर्ष करने, आगे बढ़ने तथा राज्य का विस्तार करने की नीति को अपना समर्थन दिया और इस मिलेजुले अभियान का जो परिणाम हुआ वह इतिहास के सामने है। इसके विपरीत अलगाव की नीति को कितनी असफलता मिली, इसका सबसे अच्छा उदाहरण है मराठों द्वारा दक्षिण भारत की विजय। अगले अध्याय में हम एकता तथा अलगाव की इसी विरोधी प्रवृत्ति का अध्ययन करेंगे जिसके कारण मराठा जाति की एक शाखा अलग होकर तंजौर में राज्य करने लगती है।

अध्याय 12

दक्षिण भारत में मराठे

बहुत दूर दक्षिण अर्थात् तंजौर क्षेत्र में जो बहुत पुरानी मराठा बस्तियां थीं, उनके भाग्य के बारे में न तो ग्रांट डफ ने और न देशी 'बखरों' ने ही कुछ लिखा है। भारत में मराठा राज्य और भी अनेक हिस्सों में थे, पर ये बस्तियां सबसे पुरानी थीं, और जिस परिवार का 1675 से 1855 तक लगभग दो सौ वर्षों तक उन पर शासन रहा वह परिवार पश्चिम भारत की मराठा शक्तियों के साथ काफी निकट से जुड़ा हुआ था। दुर्भाग्य के मारे इस दक्षिणी राज्य की उतार-चढ़ाव भरी कहानी से सिद्ध होता है कि मराठा शक्ति का मूल उनकी राज्यसंघीय व्यवस्था में था। इसीलिए जो उस मुख्य धारा से कट गए थे उनको मराठों के मुख्य इतिहास में कोई स्थान न मिला। बिल्कुल दुर्भाग्यपूर्ण अलगाव की कहानी बड़ी शोकजनक है, और इसी वजह से उसकी ओर ध्यान भी जाता है। मराठों की इस दूरस्थ सैनिक बस्ती का प्रभाव कावेरी के तटवर्ती क्षेत्रों पर बड़ा गहरा था। यह 1881 की जनगणना के आंकड़ों से स्पष्ट है। इसके अनुसार मद्रास राज्य में बसे मराठों की संख्या लगभग 2,30,000 थी। इसमें मैसूर, कोचीन तथा त्रावनकोर की जनसंख्या भी जोड़ दें तो कुल जोड़ ढाई लाख होता है। पूरा ब्यौरा इस प्रकार है —

(1) गंजम	205
(2) विजगापट्टम	364
(3) गोदावरी	634
(4) कृष्णा	1,414
(5) नेल्लोर	807
(6) कुड्डपा	3,973
(7) कुर्नूल	4,081
(8) बेलारी	14,169
(9) चैंगलपट	1,635
(10) उत्तर अर्काट	11,662

(11) दक्षिण अर्काट	1,957
(12) तंजौर	14,421
(13) त्रिचनापल्ली	1,766
(14) मदुरा	1,943
(15) टाइनली	837
(16) सलेम	7,906
(17) कोयम्बटूर	2,550
(18) नीलगिरि	730
(19) मलाबार	6,107
(20) दक्षिण कनारा	1,47,390
(21) मद्रास शहर	4,236
(22) पादुकोटा	660

इस प्रकार इस पूरे महाप्रान्त में एक भी जिला ऐसा नही जहा मराठो की स्थायी बस्ती न हो। डेढ़ लाख की मराठा जनसंख्या वाले दक्षिण कनारा तथा मलाबार और कोचीन तथा त्रावनकोर क्षेत्र समुद्र के किनारे-किनारे बसना शुरू हुए थे, और शाहजी तथा उनके पुत्र वेंकोजी की सेनाओं द्वारा सत्रहवी सदी के मध्य में स्थापित राज्य क्षेत्रों से उनका कोई सम्बन्ध नही था। बाहर से आए मराठा अधिवासियों का सबसे बड़ा जमघट तंजौर नगर तथा उत्तर अर्काट, सलेम तथा मद्रास शहर आदि पडोसी जिलो में था। उनके पुरखे दक्षिण की ओर शहाजी तथा उनके बेटे के साथ आए थे। मराठो के दक्षिण निवास के रूप में त्रावनकोर के महाराजा ने तजौर को बड़ी कारीगरी के साथ विकसित किया था। बाद में उस राज्य का कोई उत्तराधिकारी न रह गया था, इसलिए उसे सरकार के साथ सम्मिलित होना पड़ा। उस घटना को अब पचास वर्ष हो गए हैं, पर वहा की रानियाँ अभी भी अपनी विशाल व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा सरकारी पेंशन पर राजमहलो में निवास करती हैं। 1666—1675 में जब राज्य की स्थापना हुई थी तब उसमें दक्षिण अर्काट के कुछ, तथा त्रिचनापल्ली का पूरा हिस्सा सम्मिलित था। सैनिक अधिवासियो में ब्राह्मण तथा मराठा दोनो थे। वे अपने-अपने घरों से बहुत दूर आकर बसे थे इसलिए उनमें फूट अथवा अलगाव नही रह गया था, और वे मिले-जुले 'देशस्थ' नाम से जाने जाते थे।

तंजोर के सभी राजाओं को ज्ञानार्जन का शौक था। उनमें से कुछ मशहूर कवि तथा विद्वान भी थे। उनकी दान प्रियता भी काफी मशहूर थी। तंजोर का पुस्तकालय भी संग्रह की दृष्टि से अपने ढंग की निराली संस्था था। वाद्य तथा गेय संगीत आदि ललित कलाओं का भी सम्पूर्ण विकास हुआ था और उसे उस समय का, जैसा कि वह अब भी है, पूरे दक्षिण राज्य का सबसे सभ्य तथा सुसंस्कृत नगर माना जाता था। तंजोर के पतन के बाद कलाओं के आचार्य त्रावनकोर चले गए। उन्ही की वजह से आज भी त्रावनकोर विख्यात है। इसी प्रकार कुम्भकोणम के महानगर में भी श्रेष्ठ मराठा परिवारों के काफ़ी लोग रहते हैं। उनके प्रतिनिधि सर टी० माधवराव, दीवान बहादुर रघुनाथराव, वेंकास्वामी राव तथा गोपाल राव आदि ने काफ़ी ख्याति अर्जित की। विद्या, राजनीति तथा परोपकार के क्षेत्रों में इनमें से कइयो का नाम पूरे देश में फैला। पिछली तथा आज की, इन दोनों सदियों में त्रावनकोर तथा मैसूर के प्रान्तों में इन विद्वानों की सर्वोच्च योग्यता को फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला। त्रावनकोर के मंत्री सुब्बाराव की सेवाओं को कौन भुला सकता है? उनके एक उत्तराधिकारी सर टी० माधवराव ने उस प्रान्त को अराजकता तथा दिवालिएपन के खतरे से बचाया था। उन्होंने उसे एक आदर्श राज्य बनाया। इसी प्रकार मैसूर में दीवान बहादुर रघुनाथराव के पिता ने भी समान ख्याति अर्जित की।

उत्तर अर्काट में 'अरणी' की छोटी–सी जागीर अभी भी मराठा ब्राह्मण सरदार के हाथ में है। उनके पुरखे बीजापुर के राजाओं की सैनिक सेवा में लगभग दो सौ साल तक लगन से काम करते रहे। यह जागीर उन्हें उसी के फलस्वरूप मिली थी। कुछ दूसरे मराठा ब्राह्मण भी उन दिनो, अर्काट के नवाब की सेवा में थे। उन्होंने बड़ी श्रेष्ठता प्राप्त की और उन्हें निजामशाही ब्राह्मण कहा जाने लगा। इसी प्रकार छोटे से पादुकोटा राज्य में भी मराठे काफी संख्या में हैं। इसके काम-काज को देखने वाले बहुत से ब्राह्मण दीवान हैं। इनमें जो सबसे श्रेष्ठ हैं वे दक्षिण में बस गए मराठा परिवारों के हैं। कोचीन के मूल प्रान्त में भी काफ़ी मराठे हैं। इनमें अधिकतर विभिन्न वर्गों के ब्राह्मण ही हैं और वे व्यापार आदि करते हैं। बेलारी जिले में भी एक छोटा सा मराठा देश है सोंडा। दक्षिण की दूसरी मराठा शक्तियां तो क्षीण हो गई, पर यह बना रहा। इसके संस्थापक सुप्रसिद्ध सन्ताजी घोरपड़े के वंशज थे। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में उनके पौत्र ने कर्नाटक की लड़ाइयों में उत्तम कार्य किया था और गूटी के छोटे से राज्य के—उसके नायक हैदर द्वारा विजित होने तक—शासक भी थे। औरंगजेब के कारण महाराष्ट्र में जब मराठों को काफ़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा, तब शिवाजी के दूसरे पुत्र राजाराम जिजी चले गए। हमें याद होगा कि यह जिजी शहाजी का वह प्रमुख गढ़ था जो सत्रहवी सदी के अन्त में करीब सात साल तक दुश्मनों क घेरे को

झेलता रहा और इसी जिंजी की वजह से शहाजी तथा अन्य मराठे मिलकर औरंगजेब का सामना करने में सफल हुए।

इस संक्षिप्त वृत्तांत से स्पष्ट होगा कि किस तरह से मुट्ठी भर मराठों ने —जो मुश्किल से एक लाख से कुछ अधिक होंगे—अपने लिए न केवल जागीर तथा राज्य उपलब्ध किए बल्कि मुसलमानों की शक्ति के पतन के बाद के बुरे दिनों में भी अपना प्रभाव बनाए रखा। साथ ही वे उस महाप्रान्त में सख्या की दृष्टि से भी काफी अधिक थे, यो कि उनका सर्वोपरि प्रभाव धीरे-धीरे कम होता जा रहा था। इसी कारण से तंजौर विजय की कहानी को भी इस पुस्तक में, स्थान दिया गया है जिसमें सिर्फ मराठों न कि किसी अन्य जाति, के उदय का इतिहास होना चाहिए।

दक्षिण भारत में मराठों का आगमन सबसे पहले 1638 में शिवाजी के पिता शहाजी भोंसले के नेतृत्व में हुआ। वह आदिलशाही बीजापुर की सेवा में एक सेना के अध्यक्ष होकर आए थे। इन कर्नाटक युद्धों में शहाजी तथा उनकी सेना तीस वर्षों तक व्यस्त रही तथा उन्होंने मैसूर, वेलोर तथा जिंजी पर विजय पाई। अपनी सेवाओं के लिए शहाजी को 1648 में एक जागीर मिली जिसमें बंगलूर, कोलार, सेरा, कट्टा तथा मैसूर के कुछ अन्य स्थान थे। शहाजी ने इन युद्धों के दौरान मदुरा तथा तंजौर के पुराने नायक प्रधानों को बीजापुर के अधिराज के सामने समर्पित होने तथा नजराना देने को मजबूर किया। अपने जीवन के पूरे कार्यकाल तक, और 1664 में अपनी मृत्यु पर्यन्त, शहाजी मैसूर की जागीरों पर अपना अधिकार बनाए रहे। बंगलूर उनका मुख्य कार्यालय था जो दक्षिण में मराठा सेनाओं का सबसे सुदूरवर्ती क्षेत्र था। उनकी मृत्यु के बाद जब उनके बेटे वेंकोजी उन जागीरों के मालिक हुए तब तंजौर तथा मदुरा के नायक शासकों के बीच एक झगड़ा हुई और तंजौर के राजकुमार को मुंह की खानी पड़ी। हारने के बाद वह बीजापुर दरबार चले गए। बीजापुर ने वेंकोजी को आज्ञा दी कि वह राजकुमार को गद्दी पर फिर से बैठा दें। इस पर 12,000 सैनिकों की एक टुकड़ी के साथ वेंकोजी ने कूच किया, एक बड़ी विजय हासिल की, और शरण में आए राजकुमार को उनकी गद्दी वापस दिलवा दी। किन्तु राजकुमार के समर्थक आपस में लड़ते रहे। उनमें से एक ने वेंकोजी को तंजौर आकर किले को हथिया लेने का निमंत्रण भेजा। मराठों के आते ही तंजौर का राजकुमार भाग खड़ा हुआ। 1674 में वेंकोजी ने तंजौर को अपने अधिकार में ले लिया और फिर 1675 में उन्होंने बंगलूर की जगह उसे ही अपना मुख्यालय बनाया।

तंजौर पर वेंकोजी के शासन काल के दौरान सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना थी 1676 में भारत के उन हिस्सों में शिवाजी का अभियान। अपने इस अभियान में शिवाजी कर्नाटक की जागीर को हासिल करने में सफल हुए और वेंकोजी को अपनी

स्थिति बनाए रखने में कठिनाई हुई। कर्नाटक की जागीर पर, जिसमें तंजौर तथा त्रिचनापल्ली भी सम्मिलित थे, बीजापुर की सरकार ने शिवाजी के दावे को स्वीकार किया। अपने सौतेले भाई की इस विजय पर वेंकोजी को बड़ी निराशा हुई। उन्होंने वैरागी होकर दुनिया को छोड़ देने का निश्चय किया। इस पर शिवाजी ने अपने भाई को अपनी मशहूर चिट्ठी लिखी जिसमें उन्होंने उन्हें अपने कर्तव्य की याद दिलाई और वैरागी होने से मना किया। उन्होंने अपने भाई को सन्तुष्ट करने के लिए पिता की सम्पत्ति पर वेंकोजी के दावों को उदारता से मान लेना भी स्वीकार किया। इस उदारता का असर अच्छा हुआ और वेंकोजी 1687 में अपनी मृत्यु तक अपने क्षेत्रों के प्रधान बने रहे। शिवाजी यदि उन दिनों दक्षिण के उन हिस्सों पर अपना अधिकार बनाए रखते तो वह मराठा राज्यसंघ के लिए बहुत अच्छा होता। वेंकोजी को उनका राज्य वापस लौटा कर उन्होंने इस हिस्से को मराठा राज्य से काट कर अलग कर दिया। इस कटाव से तंजौर की भी काफ़ी क्षति हुई। वेंकोजी कुशल शासक नहीं थे। वह दूर मैसूर में अपने अधिकार को बनाए न रख सके। इसलिए उन्होंने बंगलूर को मैसूर राजाओं को सौंप दिया, जिन्होंने इस मराठा नगर को तीन लाख की छोटी-सी राशि में खरीद लिया। इन कारणों से तंजौर का राज्य दक्कन से बिलकुल अलग-थलग पड़ गया। थोड़े ही दिनों में उसके एक ओर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया और दूसरी ओर मैसूर के शासक हैदरअली तथा उसके बेटे टीपू का।

1687 में वेंकोजी की मृत्यु के बाद उनके तीनों पुत्र शहाजी, सर्फोजी तथा तुकोजी एक-एक कर गद्दी पर बैठे और सिंहासन पर उनका मिला-जुला अधिकार करीब पचास (1687–1735) वर्षों तक चलता रहा। शहाजी के शासनकाल की सबसे मुख्य घटना थी मुगल सेनापति जुल्फिक़ारखां द्वारा तंजौर पर आक्रमण। संभाजी की मृत्यु तथा उनके पुत्र शाहू के मुगलों द्वारा पकड़ लिए जाने के बाद मराठों के लिए अपने मूल देश दक्कन में औरंगजेब की शक्ति का मुकाबला करना कठिन हो गया, अत: शिवाजी के दूसरे बेटे राजाराम मराठा सेनानायकों तथा राजनेताओं के साथ, जो राष्ट्रीय स्तर को अभी भी बनाए हुए थे, दक्षिण चले गए और पांडिचेरी के पड़ोस में जाकर जिंजी में बस गए। इस पर मुगल हमलावर दक्षिण की ओर बढ़े और जिंजी को घेर लिया। यह घेरा सफ़लता और असफलता झेलता हुआ कई वर्षों तक चलता रहा और इन्हीं हमलों के दौरान मुगलों ने तंजौर से कर वसूलना शुरू कर दिया और राजा को भी त्रिचनापल्ली ज़िले के एक हिस्से से हाथ धोना पड़ा। बाद के दो नरपतियों, सर्फोजी तथा तुकोजी के शासनकाल में तंजौर के मराठों ने अपनी शक्ति के क्षेत्र को रामेश्वर के पड़ोस में मारवा देश तक बढ़ा लिया। 1730 में शिवगंगा और रामनाथ की जमींदारी भी ले ली गई। ये दोनों ही जागीरदार थे जो तंजौर में कोई शक्तिशाली शासक आता तो उसके साथ हो लेते और किसी कमज़ोर शासक के आने पर उसे दबाने का प्रयास करते।

देश के इस हिस्से पर मराठों की निर्णायक विजय हुई 1763 तथा 1771 में। यह जीत हासिल की गई दो मराठा सेनापतियों सिदोजी तथा मनकोजी द्वारा, जिन्होंने बड़ा यश कमाया था। मनकोजी ने 1742 तथा 1763 के मध्य की लड़ाइयों में भी अच्छी भूमिका अदा की थी।

वेंकोजी के तीनों बेटों की मृत्यु के बाद, 1735 तथा 1740 के बीच, एक के बाद एक कई शासक तेजी के साथ आए और चले गए। कुछ की तो असामयिक मृत्यु हो गई और कुछ इसलिए गए कि मुगल सेनापति अपने ही प्रतिनिधि को राजा बनाने का प्रयास करते रहे। अन्त में तंजौर की सेना में लगे मराठा अधिकारियों को तुकोजी के एक गैरकानूनी पुत्र प्रतापसिंह को 1740 में सिंहासन तक ले जाने में सफलता मिली और उनका शासन कोई तेईस वर्ष चला।

प्रतापसिंह के शासनकाल के शुरू के वर्षों में दक्षिण भारत पर दूसरा हमला हुआ नागपुर के रघुजी भोंसले के नेतृत्व में सतारा के राजा की सघीय सेना का। सतारा का यह अभियान उनके सबसे बड़े अभियानों में था। इस युद्ध का परिणाम स्थायी होता, यदि मराठा अपनी आपसी ईर्ष्या को भूल सकते और रघुजी त्रिचनापल्ली के निकट अपनी पहले की सफलताओं को और आगे बढ़ाते। इसके विपरीत उन्होंने त्रिचनापल्ली में अपनी सेना की एक टुकड़ी छोड़ कर और चांदा साहब को सतारा में बंदी बनाकर सन्तुष्ट हो गए। उसी समय पेशवा भी उत्तर भारत में मुगलों की जड़ खोदने को बेचैन हो रहे थे। रघुजी का यह दक्षिण अभियान इस नीति के फलस्वरूप था कि शाहू उत्तर भारत की चिन्ता छोड़ दें और दक्षिण के प्रान्तों को सदा के लिए हाथ में कर लें। इस नीति को कुछ मराठा प्रधानों का भी समर्थन मिला था। दक्षिण से लौटने के बाद रघुजी भोंसले बंगाल तथा पूर्वी भारत की ओर व्यस्त रहे। दक्षिण में हैदरअली के आने तक मराठों के प्रभाव का सिलसिला भी बन्द रहा। पांडीचेरी के फ्रांसीसी गवर्नर डुप्ले के अनुरोध पर शाहू ने चांदा साहब को मुक्त कर दिया, जिसका परिणाम था 1750 तथा 1760 के मध्य अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच दस साल लम्बा युद्ध। तंजौर के राजाओं ने अंग्रेजों के आश्रित मुहम्मद अली का साथ दिया। फ्रांसीसियों के साथी मुरारराव घोरपडे के हाथों उन्हें हानि सहनी पड़ी, क्योंकि राजाओं की मदद करने में अंग्रेज अपने को असमर्थ पा रहे थे। बाद में फ्रांसीसी सेनापति लैली ने भी तंजौर को लूटा, पर इस बार अंग्रेजों की सहायता मिल गई। इन कर्नाटक की लड़ाइयों के दौरान मनकोजी की अध्यक्षता में कार्य कर रही तंजौर की सेना लगातार बड़े ही महत्वपूर्ण ढंग से अंग्रेजों के साथ रही तथा फ्रांसीसियों का विरोध करती रही।

तंजौर के राजाओं द्वारा अंग्रेजों के हक में किए गए इन बलिदानों के बावजूद नवाब मुहम्मद अली को तंजौर से, जो अत्यन्त समृद्धिपूर्ण माना जाता था, हमेशा

शिकायत रही और 1762 में अंग्रेजों की मध्यस्थता के बाद ही यह तय हो पाया कि राजा नवाब को नजराना देंगे, जिसका जिम्मा अंग्रेजों का होगा, और चार लाख की नकद भेंट भी तुरन्त दी जाएगी। उसके बाद 1771 में नवाब ने मद्रास सरकार की मदद से प्रतापसिंह के पुत्र तुलसाजी पर आक्रमण किया। तुलसाजी को काफी धन तथा सरकारी सम्पत्ति देकर शान्ति खरीदनी पड़ी और इस प्रकार तंजौर प्रान्त के साधनों में और कमी आई। इस शान्ति संधि में तंजौर के राजा को मुहम्मद अली के लोभ को शान्त करने के लिए काफी कुछ बलिदान करना पड़ा। मुहम्मद अली के साथ ही कुछ अंग्रेज लेनदारों को भी खुश करना पड़ा, क्योंकि वे उस समय मद्रास की सरकार में काफी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे थे। 1762 के समझौते के अनुसार अंग्रेजों ने तंजौर की स्वायत्तता की सुरक्षा का जिम्मा लिया था, पर अब उसे धूल में मिला दिया गया। 1773 में अपने अंग्रेज सहयोगियों के साथ नवाब ने एक बार फिर लूटमार शुरू कर दी। राजा कैद हो गए, शहर को ले लिया गया और फिर उसे नवाब के राज्य में मिला लिया। लूट-पाट तथा विश्वासघात के ये सारे काम मद्रास सरकार ने अपने दायित्व पर शुरू किए थे और उसका मकसद था नवाब के अंग्रेज ऋणदाताओं की मदद करना। डायरेक्टरों के कोर्ट को इसका कोई ज्ञान न था, और बाद में जब उन्हें इन अन्यायपूर्ण क्रिया-कलापों का पता चला तब उन्होंने मद्रास सरकार की काफी भर्त्सना की। उन्होंने गवर्नर को तुरन्त बुला लिया और तुलसाजी को पैतृक सिंहासन पर बिठाने का निश्चय किया। तदनुसार इन आज्ञाओं का पालन 1776 में हुआ। किन्तु नवाब के शासन के तीन वर्षों में देश की साधन-सम्पन्नता करीब-करीब खत्म हो चुकी थी और पुनः उसे प्राप्त करने में करीब दस वर्ष लगे। ठीक उसी समय अंग्रेजों और हैदरअली के बीच लड़ाई छिड़ गई। हैदरअली ने तंजौर के दुर्भाग्यपूर्ण प्रदेश से, उसे 1782 में एक बार फिर लूटकर उसे खाली कर, एक बार फिर बदला लिया। 1787 में इन्ही परेशानियों के बीच तुलसाजी का देहान्त हुआ। वह तब तक ग्यारह वर्ष तक राज्य कर चुके थे। तंजौर अपने मूल स्रोत से कटकर अलग पड़ गया था। हैदर पर मराठों के हमले हुए, फिर विजय मिली, पर उनसे तंजौर का दु:ख दूर न हुआ, क्योंकि वह एक ओर अंग्रेजों तथा दूसरी ओर हैदर के बीच घिरा हुआ था। इन बीस वर्षों में उसको इतनी भारी क्षति उठानी पड़ी कि वह उससे फिर उबर न सका, क्योंकि तब तक टीपू के पतन के बाद दक्षिण भारत में शान्ति की स्थापना हो चुकी थी। इसके अपने आन्तरिक झगड़े भी कम नहीं थे। तुलसाजी के दत्तक पुत्र को सौतेले भाई अमरसिंह ने गद्दी से हटा दिया था। मद्रास सरकार को दी जाने वाली रकम भी काफी अधिक हो चुकी थी। राज्य के साधन भी इतने कम हो चुके थे कि राजा को खर्च चलाना भी मुश्किल हो रहा था। तुलसाजी के गोद के बेटे सर्फोजी को एक मिशनरी के रूप में एक मित्र तथा संरक्षक मिला। 'डायरेक्टरों के कोर्ट' ने भी उत्तराधिकार के लिए उनके दावे को स्वीकार कर लिया। 1798 में उन्हें गद्दी पर बिठा दिया

गया और अमरसिंह को पेंशन देकर निवृत्त कर दिया गया। टीपू की पराजय के बाद मैसूर में वेलेजली का अधिकार था। उसने सर्फोजी को अपने सारे अधिकारों को छोड़ देने पर बाध्य किया और उन्हें मालगुजारी की रकम से एक निश्चित पेंशन देकर नामधारी राजा बना रहने दिया। सर्फोजी 1833 में अपनी मृत्यु तक इसी पेंशन तथा सम्मान पर जीते रहे। उनकी मृत्यु के बाद उनका बेटा उत्तराधिकारी हुआ। 1845 में उसका भी देहान्त हो गया। उसके बाद गद्दी का कोई मुख्य उत्तराधिकारी न रहा। तंजौर का राज्य अंग्रेजों की कम्पनी में मिल गया, रानियों को पेंशन दी जाने लगी और उन्हें अपने ही महलों में रहने दिया गया। उनकी निजी सम्पत्ति भी ले ली गई किन्तु फिर कई वर्षों की मुकदमेबाजी के बाद वह उन्हें वापस कर दी गई।

संक्षेप में यही दुर्भाग्यपूर्ण कहानी है दक्षिण में मराठों के इस छोटे से सैनिक पड़ाव की जो मराठा संघ के सदस्य हो गए थे। उन्होंने तो मुगलों के खिलाफ अपना अस्तित्व बनाए रखने में सफलता प्राप्त की, और बीस वर्षों की लड़ाई के बाद स्वतन्त्रता भी प्राप्त कर ली, किन्तु यह एक छोटा-सा उपनिवेश मराठा राज्य संघ से अलग रहा और इसीलिए उसे कर्नाटक के युद्धों में अपने को घसीटना पड़ा। 1762 में तो वह एक तरह से एक स्वतन्त्र राज्य बिलकुल ही न रह गया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह यदि मूल राज्य से जुड़ा हुआ होता तो मराठों के अनेक हमलों में महत्वपूर्ण भूमिकाएं अदा करता। ये हमले 1762 तथा 1792 के बीच हुए थे और इन सभी हमलों में मराठा विजयी हुए थे और टीपू तथा हैदर को हर बार काफी धन तथा भूमि देकर शान्ति खरीदने के लिए मजबूर होना पड़ा था। गूटी में अन्य मराठा उपनिवेशों की तरह तंजौर को भी काफी हानि उठानी पड़ी। उसका भी वही दोष था—अर्थात राज्यसंघ की मूल धारा से कट जाना। इस कहानी से हमें यही शिक्षा मिलती है और इस शिक्षा का मूल मंत्र भी यही है कि मराठों ने जब-जब भी एकता तथा संघीय शक्ति से काम लिया, तब उनकी ताकत बढ़ी और जब उनमें दरार पड़ गई तब वे अपनी आजादी को भी बचाए रखने में असमर्थ रहे।

कुछ पन्ने मराठा इतिहास के

परिशिष्ट

दक्कन कालेज परिषद के समक्ष स्वर्गीय
श्री जस्टिस के० टी० तैलंग द्वारा
17 सितम्बर, 1892 को पढ़ा गया
निबन्ध

कुछ पन्ने मराठा इतिहास के

इस तथ्य को सभी अच्छी तरह जानते हैं कि कैप्टन जेम्स ग्राट डफ द्वारा लिखित मराठों का स्तरीय[1] इतिहास मराठा बखरों अथवा गाथाकारों द्वारा दिए गए वृतान्तों तथा उन मौलिक कागजों और दस्तावेजों पर आधारित है जिन्हें देखने का अवसर लखक को मिला था। ग्राट डफ ने इनमें से बहुत सारे प्रपत्रों की प्रतियां बनवा ली थीं, और जैसा कि उसने अपने इतिहास में कहा है,[2] उसने इन्हें बम्बई की 'लिटरेरी सोसायटी' में जमा किर दिया था। दुर्भाग्यवश उस सोसायटी का अब कोई अस्तित्व न रहा। ग्राट डफ की पाण्डुलिपि का भी अब कोई अता-पता नही। 'रायल एशियाटिक सोसायटी' की बम्बई शाखा के पुस्तकालय में मैंने पूछताछ की और पाण्डुलिपि को भी ढू ने का प्रयास किया, क्योंकि अब यही 'सोसायटी' 'लिटरेरी सोसायटी' की उत्तराधिकारिणी है। किन्तु उस पुस्तकालय में पाण्डुलिपिया नही है, और इनमें से किसी भी सोसायटी के हिसाब-किताब से इस बात का पत्ता नही चलता कि वे अब कहां हो सकती हैं। कुछ लोगो ने कई वर्षों से अपनी यह राय कायम कर रखी है[3] कि उन पाण्डुलिपियो को, यदि ग्राट डफ की आज्ञा से नही तो उनकी जानकारी में, जला दिया गया था। पर उनकी इस राय के आधार का पता मैं अभी तक नही लगा पाया हू।[4] यह कहानी कुछ असम्भावित सी लगती है, उतनी ही असम्भावित जितनी ये कहानिया कि कागजो और दस्तावेजो को 'इनाम कमीशन' ने जलवा दिया था। इसीलिए उन पर आगे विचार करना संभव नही। यह कहानी मूल रूप से शायद तब गढ दी गई होगी जब पता चला होगा कि पाण्डुलिपियां 'रायल एशियाटिक सोसायटी' की बम्बई शाखा के पुस्तकालय में नही हैं।

इनमें से कुछ दस्तावेजों को पिछले दस-बारह वर्षों में छापकर मराठा इतिहास के पाठको को उपलब्ध करा दिया गया है। इन्हीं के साथ कुछ सामग्री ऐसी भी छापी गई जो लगता है ग्राट डफ के समय नही थी। इन्हें देखने से यह भी लगता है कि इनके कुछ अंश मराठा इतिहास के लिए रोचक सिद्ध हो सकते हैं, गोकि उन पर एक सरसरी निगाह भी डालना ग्राट डफ की विषय-सीमा से शायद बाहर की वस्तु थी। उसने उन्हें देखा भी होगा तो बस यों ही, और वह भी बस थोड़े से पन्नों को। ग्रांट डफ का मुख्य उद्देश्य था, गोकि यह उसका एकमात्र उद्देश्य नही था, मराठों के मात्र राजनैतिक इतिहास का लेखन। सामाजिक तथा धार्मिक प्रगति की चर्चा मात्र अप्रत्यक्ष तथा

आकस्मिक है। यह सच है कि मूल दस्तावेजों में भी, जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है, उस समय की विभिन्न राजनैतिक गतिविधियों का ही कार्य-विवरण है।[5] फिर भी, जबकि यह मूल सामग्री हमारे सामने है, तब उनमें मिलने वाले सामाजिक तथा धार्मिक मामलों के उल्लेखों का समुचित उपयोग किया जा सकता है और जहां तक खोई हुई पाण्डुलिपियों का प्रश्न है, कोई जरूरी नहीं कि उनकी भी वही उपयोगिता रही हो। वैसे भी, उनमें चाहे जो भी सामग्री रही हो, उन तक सुनी-सुनाई बातों के माध्यम से भी अब हमारे लिए पहुंचना सम्भव नहीं। कुल मिलाकर, हमारे पास जो अब उपलब्ध सामग्री है, उसके आधार पर मराठा इतिहास के राजनैतिक अथवा सामाजिक पक्ष पर कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त की जा सकती। बस थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ता है, और यह खेद की बात है, और अब ग्राट डफ की पाण्डुलिपि के खो जाने के बाद इसकी भी आशा नहीं रही कि हम अपने ज्ञान में अभिवृद्धि कर सकें। उनके अभाव में हमारे लिए अब बस यही सम्भव है कि पिछले कुछ वर्षों में जो छपी हुई सामग्री उपलब्ध है, उसमें बिखरे हुए प्रकाश के कणों को एकत्र कर इस निबन्ध में एक समूचा चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाए। वह मुद्रित सामग्री है 'विविधज्ञानविस्तार', 'कायस्थ प्रभुच्या इतिहासाची साधन' तथा 'काव्यातिहास संग्रह' के कतिपय पृष्ठ।[6]

सबसे पहली दिलचस्प बात जिसका यहां उल्लेख होना चाहिए, यह है कि लोगों के धार्मिक तथा सामाजिक मुद्दों के प्रति राज्य का क्या दृष्टिकोण था। यहां सबसे पहले हमें मराठा शक्ति की प्रारम्भिक दशा, तथा उस प्रणाली का पुनरावलोकन भी करना होगा जिसे उस शक्ति के संस्थापक ने शुरू किया था। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि प्रतिकूल परिस्थितियों तथा उन दिनों के अपने में सभी को समेट लेने वाले सैनिकवाद के बावजूद,[7] शिवाजी की प्रतिभा को एक विस्तृत तथा नियमित नागरिक शासन प्रणाली निर्मित करने का समय मिला,[8] और इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ भी और जैसे भी किया उसकी तुलना पूरे मराठा इतिहास में नहीं। हां, पेशवा माधवराव के शासन काल में इस दिशा में कुछ कार्य अवश्य हुआ था।[9] शिवाजी की प्रणाली की एक मुख्य विशेषता यह थी कि उन्होंने एक 'मंत्रि-परिषद,' आठ मन्त्रियों की अपनी सुप्रसिद्ध 'अष्टप्रधान' व्यवस्था की स्थापना की।[10] उनमें से एक को 'पण्डितराव' कहा जाता था।[11] अन्य मन्त्रियों तथा बड़े अधिकारियों की तरह पण्डितराव के कर्तव्यों का उल्लेख उस टिप्पणी में किया गया है जो ज्येष्ठ की तेरस, मंगलवार को 1674 को लिखित बताई जाती है।[12] इसके अनुसार 'पण्डितराव' का दायित्व था राज्य के सभी धार्मिक अधिकारियों का प्रतिपालन कराना और छानबीन के बाद उन लोगों को दण्डित करना जो राज्य के धार्मिक विधानों का उल्लघन करते थे। राज्य की ओर से विद्वानों का स्वागत भी उन्हीं का काम था। वही उन दस्तावेजों पर भी हस्ताक्षर करता था जो राजा द्वारा 'आचार', 'व्यवहार' तथा 'प्रायश्चित' 'धर्मशास्त्र' के इन तीन विभागों में भेजी जाती थी[13]। 'शातियों'[14] के कार्य का परीक्षण भी उस

का काम था। राजा द्वारा दिए गए उपहारों तथा अन्य रस्मों की देखरेख का काम भी उसी का था। मल्हार रामराव चिटनिस द्वारा लिखी गई शिवाजी की जीवनी में यह भी कहा गया है कि शिवाजी ने अपनी 'अष्टप्रधान' प्रणाली तथा उसके अधिकार पुरानी परम्पराओं तथा रिवाजों के अनुसार निश्चित किए थे।[15]

कोल्हापुर के राजा शम्भू छत्रपति के मार्गशीर्ष शुद्ध चतुर्थ, दिन रविवार (1716 ई०) के एक 'आज्ञापत्र' में नृपति के कर्तव्यों में प्रजा के बीच अधार्मिकता की हर प्रवृत्ति को दबाना, धर्म-निष्ठा को उभारना और इस प्रकार आने वाले जीवन में शाश्वत सुख को प्राप्त करना भी बताया गया है।[16] तदनुसार यह भी कहा गया[17] है कि विधर्मी विचारों को, जो धर्म के शत्रु के समान हैं, राज्य में किसी भी दशा में फैलने न दिया जाए, और यदि वे कहीं पनपते हुए दिखाई दें तो स्वय मंत्री द्वारा उनकी छानबीन की जाए, समुचित दण्ड की व्यवस्था की जाए, ताकि कोई भी कुमार्ग पर न चल पाए और इस प्रकार अन्ततः बुराई को बिलकुल समाप्त करना सम्भव हो।

अतः लगता है कि मराठा नरेश अपनी प्रजा के धार्मिक मामलों का संचालन करना अपना अधिकार, या शायद अपना कर्तव्य समझते थे और इस कार्य के लिए नियुक्त मंत्री हमेशा ब्राह्मण ही होता था—और स्वभावतः यही अपेक्षित भी था। यह भी लगता है कि इन कर्तव्यों का पालन कभी-कभी बलपूर्वक भी कराया जाता था और उन्हें विस्तारपूर्वक कागज पर अंकित भी किया जाता था। उदाहरणार्थ, शिवाजी के पुत्र तथा उत्तराधिकारी संभाजी के शासनकाल में उनके प्रिय 'कावजी'[18] कलुषा ने बहुत से अपराध किए, राजा को मंत्री पण्डितराव की धार्मिक सलाहों के विरुद्ध भड़काया और उन्हें छः शास्त्रों के पण्डित'[19] कुछ जाने माने ब्राह्मणों को 'प्रायश्चित' दण्ड देने की सलाह दी। हमारे सामने जो दस्तावेज है उसमें यह स्पष्ट नहीं कि उन ब्राह्मणों की क्या न्यूनताएं थी, और उन्होंने कौन से अपराध किए थे। हमारे पास कोई अन्य स्रोत नहीं जिसके आधार पर हम इस बात की जानकारी हासिल कर सकें।

शाहू के शासनकाल में ही, जब बालाजी बाजीराव 'पेशवा' थे, तब राज्य को ब्राह्मणों तथा प्रभुओं के बीच चले आ रहे एक पुराने झगड़े का निपटारा करना पड़ा।[20] यह झगड़ा लगता है कि शिवाजी के समय ही शुरू हो गया था[21] और उसके बाद जो समझौता हुआ उसका पालन संभाजी तथा राजाराम के शासनकाल में होता रहा। स्वयं शाहू के शासनकाल में भी कुछ समय तक उनका पालन हुआ। किन्तु शाहू के शासनकाल के उत्तरार्ध में ही वही विवाद एक बार फिर उठ खड़ा हुआ। कारण यह था कि शाहू शिवाजी की तरह ही प्रभुओं के पक्ष में थे।[22] प्रभुओं की गाथाओं में लि. है कि ब्राह्मणों के विरुद्ध यह शिकायत थी कि वे पुराने पौराणिक ग्रन्थों तथा 'स्मृ-

खण्ड' आदि पुस्तकों में कुछ अपनी रचनाएं भी जोड़ देते थे जिससे कि प्रभु जाति के लोगों के मान-सम्मान में कमी आए। विवाद का मुद्दा जब पेशवा बालाजी बाजीराव के सामने आया तब उन्होंने शाहू को लिखा कि पुरानी प्रथा का पालन होते रहना चाहिए, ब्राह्मणों द्वारा उठाए गए नए झगड़ों पर ध्यान नहीं देना चाहिए और इस सम्बन्ध में उन्हें पक्के तथा स्पष्ट आदेश मिलने चाहिए। इस पर शाहू[23] ने वाण्डे तथा माहुली (कृष्णा नदी के तट पर) के ब्राह्मणों को आज्ञा भेजी कि वे अन्तिम संस्कार आदि करते रहें, जैसा कि बीजापुर के राजाओं के शासनकाल में वे करते रहे हैं,[24] और जो वे शिवाजी, सांभाजी, राजाराम, ताराबाई तथा वर्तमान शासन के शुरू के दिनों में भी करते रहे हैं। उनसे यह भी कहा गया कि वे "कोई पुराना बन्द न करें और न ही कुछ नया शुरू करें।" लगता है कि राजसत्ता की इस आज्ञा के साथ ही पण्डितराव रघुनाथ ने इन ब्राह्मणों को अपना भी एक सन्देश भेजा जिसमें संक्षेप में शाहू की आज्ञा का विवरण था और यह भी कहा गया था कि पुरानी प्रथा को फिर से जीवित किया जाए।[25] हमें मालूम होता है कि यद्यपि ये आदेश भेज दिए गए थे फिर भी विवाद शान्त न हुआ था। कारण यह था कि प्रतिनिधि जगजीवनराव पण्डित तथा उनके सहयोगी यामाजी ने, जो सतारा में शाहू के कामकाज की देख रेख कर रहे थे, यह देखते हुए कि शाहू का अन्त अब निकट है, समझौते को वास्तव में स्वीकार न किया था। शीघ्र ही शाहू का देहान्त हो गया और बालाजी बाजीराव ने तुरन्त प्रतिनिधि तथा यामाजी,[26] दोनों को जेल में डाल कर यह आदेश जारी किया[27] कि प्रभु परिवारों से सम्बन्ध रखने वाली सारी पुरानी रीतियां फिर से शुरू कर दी जाएं। वह सारी रीतियां माधवराव के शासन के अन्त तथा नारायणराव के शासन के प्रारम्भ तक चलती रहीं।

इसके कई वर्षों बाद,[28] पेशवा सवाई माधवराव के काल में नरहरि पानलेकर नामक एक ब्राह्मण, कहा जाता है कि यवन होकर भ्रष्ट हो गया, जिसका अर्थ यह है कि उसने मुसलमानों का धर्म स्वीकार कर लिया और हिन्दुत्व से गिर गया। बाद में पैठन के कुछ ब्राह्मणों ने उसे अपने वर्ग में वापस ले लिया, गोकि पेशवा के आदेशानुसार उन्होंने यह अच्छा नहीं किया। ब्राह्मणों के बीच उसके वापस आ जाने से उस स्थान के ब्राह्मणों में फूट पैदा हो गई। तभी सरकार के एक अधिकारी ने जाति-बहिष्कृत ब्राह्मण तथा दूसरे ब्राह्मणों को बलपूर्वक एक साथ बैठा कर भोजन करने को बाध्य किया। पेशवा के आदेश में लिखा है कि इसका परिणाम यह हुआ कि पैठन के सभी ब्राह्मणों को जाति के बाहर कर दिया गया। इस पर सरकार ने दो कारकुनों को भेज कर पैठन के सभी ब्राह्मणों का एक साथ प्रायश्चित कराया। आज्ञापत्र में जो परगना जलनापुर के सभी देशपाण्डे तथा देशमुखों के नाम था, इन सभी बातों का ब्यौरा है। उसमें यह भी कहा गया है कि परगना के अन्य ब्राह्मण भी जिनका पैठन के ब्राह्मणों से व्यवहार था, समुचित प्रायश्चित करें और यह सभी इन्हीं दो

सरकारी कारकूनो के माध्यम से होना चाहिए। इस घटना से कई उल्लेखनीय बातें सामने आती हैं। सबसे पहले तो यह पता चलता है कि वह तर्क कितना निर्मम रहा होगा जिसके अन्तर्गत परगना के सभी ब्राह्मणों को प्रायश्चित के लिए बाध्य होना पडा। इसी तरह की एक घटना बाद में अक्तूबर 1800 में नाना फड़नवीस तथा परशुराम भानु पटवर्धन की मृत्यु के बाद घटी। उस घटना में भी इसी प्रकार के तर्क का इस्तेमाल किया गया था। पेशवा के राजमहल में नियुक्त एक ब्राह्मण भृत्य के बारे में बाद में पता चला कि वह ब्राह्मण नहीं बल्कि नीची जाति का, एक जीनसाज था। आदेश हुआ कि उसे दण्डित किया जाए और यह भी आदेश हुआ कि पूरा का पूरा पूना शहर प्रायश्चित करे। परिणाम यह हुआ कि चूंकि उन दिनों, जैसा कि आज भी है, नगर की अधिकतर आबादी ब्राह्मणों की थी इसलिए सभी ब्राह्मणों को प्रायश्चित करना पडा।[29]

त्रिम्बकेश्वर में सदाशिवराव भाऊ[30] द्वारा एक अत्यन्त ही अजीब धार्मिक मामले का निपटारा किया गया था। सिंहस्थ वर्ष में त्रिम्बकेश्वर में स्नान को लेकर गेरी और पुरी[31] ब्राह्मणों के बीच एक विवाद खडा हो गया जिसका मूल इस बात में था कि स्नान में किसको प्राथमिकता मिले। इसको लेकर काफी दंगा हुआ। सदाशिवराव ने 'सरकार की ओर से' समझौता कराना स्वीकार किया। ब्राह्मणों के दलों ने भी उनके फैसले को मानने का वादा किया। सदाशिवराव ने प्रतिद्वन्द्वी दलों के महन्तों का एक-एक हाथ पकड़ा और उन्हें लेकर पवित्र जल में प्रवेश किया। इस प्रकार जब दलों के प्रतिनिधि जल में एक ही साथ घुसे तब प्राथमिकता सम्बन्धी सारा विवाद समाप्त हो गया।[32]

कुछ समय पहले त्रिम्बकेश्वर में बने एक मन्दिर को लेकर ब्राह्मणों के प्रतिद्वन्द्वी गुटों में एक दूसरा झगड़ा पैदा हुआ था,[33] किन्तु उस झगड़े के निपटारे में पेशवा को उतनी ही सफलता नहीं मिली थी। मन्दिर का समर्पण समारोह उस समय नहीं हो पाया जब बालाजी ने उसे चाहा था, कारण यह था कि यजुर्वेदी तथा अपस्तम्ब ब्राह्मणों के बीच कोई विवाद था जो कदाचित मन्दिर के दक्षिणी द्वार को लेकर था।[34] पता नहीं चलता कि वह विवाद अन्त में कैसे शान्त हुआ।[35] यहां प्रसंगवश इस बात का भी उल्लेख आवश्यक है कि पेशवा के आदेश से त्रिम्बकेश्वर मन्दिर के निर्माण में इस्तेमाल किया गया कुछ पत्थर मुगल जिलों के मुसलमान मस्जिदों से लिया गया था। यह पता नहीं चला कि उस समय वे मस्जिदें जीर्ण शीर्ण अवस्था में थी या उनका इस्तेमाल बंद कर दिया गया था।[36]

एक दूसरा मामला जिसमें लोगों के विरोध के कारण उस समय के पेशवा अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कर पाए थे, बाजीराव प्रथम के काल में घटित हुआ

मुझे इसका कोई मौलिक प्रमाण नहीं मिला है, किन्तु 'पेशवा बखर' के सम्पादक की एक टिप्पणी में कहा गया है कि बाजीराव का एक मुसलमान स्त्री मस्तानी से एक बेटा था जिसका यज्ञोपवीत संस्कार करा के वह उसे ब्राह्मण बनाना चाहते थे। किन्तु ब्राह्मणों के विरोध के सामने उनकी योजना धरी रह गई।[37] बाजीराव के एक चरित्र चित्रण में, जिस पर 1840 की तारीख अंकित है, (यह शायद रचना की लेखन-तिथि नहीं, उसकी प्रतिलिपि तिथि है) उस एक प्रकार के अर्ध-विवाह का संक्षिप्त विवरण दिया गया है जो बाजीराव तथा मस्तानी के बीच हुआ था।[38] उसमें कहा गया है कि मस्तानी हैदराबाद के नवाब अर्थात निजाम की बेटी थी, और नवाब की बीवी ने यह सुझाव दिया था कि सम्बन्धों को और अधिक पक्का करने के लिए बाजीराव से बेटी का विवाह किया जा सकता है। विवाह तो हुआ, पर तलवार के जोर पर,[39] बाद में बाजीराव मस्तानी को ले आए और उसे अलग एक ऐसे महल में रखा जो पूना के राजमहल की भूमि पर उसके लिए विशेष रूप से बनवाया गया था।

एक दूसरे बड़े महत्व के मामले को जिसकी ओर हिन्दुओं का ध्यान आज बड़ी तेजी से जा रहा है, पेशवाओं के एक आदेश के अनुसार सुलझाने का प्रयास किया गया था—यद्यपि यहां यह कहना सम्भव नहीं कि उस समय कौन से पेशवा का हुक्म चल रहा था। उस आदेश में लिखा गया था कि कोई भी ब्राह्मण अपनी कन्या का विवाह पैसा लेकर नहीं करेगा, जो पैसा लेगा उसे उसकी दूनी राशि सरकार को देनी होगी, साथ ही जो पैसा देकर विवाह करेगा उसे भी इसी प्रकार का दण्ड भुगतना होगा। आदेश में यह भी स्पष्ट किया गया था कि शादियों में, बिचौलियों का काम करने वाले भी अपनी सेवाओं के बदले में धन नहीं लेंगे और यदि लेंगे तो उन्हें उसे सरकार को लौटा देना होगा। इस आदेश को पालन कराने का काम जिस अधिकारी को सौंपा गया था, उससे कह दिया गया था कि ब्राह्मण जाति के लोगों को वह सारी बात 'कड़ाई के साथ' समझा दे। उसमें यह भी कहा गया कि वह यह सब सभी जमींदारों, धार्मिक कार्यकर्ताओं, पुरोहितों, ज्योतिषियों, पाटिलों तथा कुलकर्णियों को भी बता दें और जुर्माने की रकम को खर्च आदि के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के बहाने को न सुने और वसूल करे। अब जो पत्र प्रकाशित हुआ है उसके साथ इस आदेश की प्राप्ति की रसीद भी है, जिसमें इन सारी बातों को दुहराया गया है और वादा किया गया है कि आदेश की सारी बातें वाई नगर तथा सरकारी गांवों के सभी लोगों, देशमुखों तथा देशपाण्डे जाति के लोगों को बता दी जाएंगी। इस आदेश के सम्बन्ध में अब कुछ अधिक कहना आवश्यक नहीं है; हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि यह आदेश अपनी सर्वांगीणता में काफी महत्वपूर्ण था क्योंकि लेन-देन के जघन्य कार्य में सम्मिलित कन्या को खरीदने वालों से लेकर बेचने वालों तक, और बिचौलिए दलालों तक, सभी लोगों पर प्रहार किया गया था।[40]

इन बातों से स्पष्ट झलकता है कि मराठों के शासनकाल में धर्म और सरकार का सम्बन्ध काफी निकट का था, और यह भी प्रतीत होता है कि यह सम्बन्ध केवल सैद्धान्तिक नहीं, बल्कि व्यावहारिक धरातल पर भी काफी गहरा था। यही हाल मराठा राजाओं तथा ब्राह्मण पेशवाओं के शासन काल में भी था। अन्तर केवल यह था कि पेशवा काल में दिए गए आदेशों के साथ राजा शाहू के नाम की साधारणतया इस्तेमाल की जाने वाली मुहर भी लगी होती थी।[41] इसमें कोई अधिक आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि धार्मिक तथा पुरोहिती मामलों को राज्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखने का विचार ससार में आज भी कहीं नहीं माना जाता। शिवाजी तथा उनके उत्तराधिकारियों द्वारा पेशवाओं के शासनकाल के अन्त तक चलाए जाने वाले आन्दोलन का प्रेरक सिद्धान्त भी यही था—अर्थात विदेशी आक्रमण से हिन्दू धर्म को बचा कर रखना।[42] केवल एक बात जो दिमाग में आती है वह यह है कि धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप के लिए मराठा राज्य कैसे इस तरह से हमेशा तैयार थे। एक कारण तो शायद यह है कि लोगों ने साधारणतया यह स्वीकार कर लिया था कि शिवाजी मूलत. क्षत्रिय थे, पर इस विषय पर विशेष बातें आगामी पृष्ठों पर। दूसरी और इस बात का उल्लेख भी आवश्यक है कि शास्त्रियों के अनुसार वर्तमान समय में ब्राह्मणों तथा शूद्रों के अतिरिक्त किसी अन्य जाति का अस्तित्व है ही नहीं।[43] उनकी यह धारणा भागवत पुराण[44] के किसी प्राचीन पाठ पर आधारित जान पड़ती है। उसके अनुसार नन्दा जाति के लोग अन्तिम क्षत्रिय थे। वे अपनी उस मूल धारणा से आज भी विचलित नहीं हुए हैं। शिवाजी के स्वयं क्षत्रिय होने के अपने दावे से यह बात स्पष्ट होती है। उनके इस दावे को रामदास की मौन स्वीकृति भी मिली लगती है।[45] यह तथ्य इस सिद्धान्त में और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है और उसके अन्दर दैवी तत्व होते हैं। हाल ही में प्रकाशित एक 'बखर' के अनुसार दैवी होने का लाभ दिल्ली के मुगल बादशाह तक को दिया गया था।[46] और यदि उसे यह लाभ है तो फिर शिवाजी तथा रामाजी के अर्ध-दैवी चरित्र को हम क्यों न स्वीकार करें।[47]

इस प्रसंग में कृष्णाजी ए० सभासद द्वारा लिखित शिवाजी की जीवनी के एक अंश को स्मरण करने का लोभ संवरण कर पाना कठिन है। और, यद्यपि शिवाजी का अभियान मूलतः धार्मिक था, फिर भी वह अपने धर्म[48] के मन्दिरों तथा धार्मिक संस्थानों के रख-रखाव के लिए अनुदान का विधान करते समय मुसलमान पीरों और मस्जिदों की देखरेख तथा रोशनी आदि के लिए[49] भी अनुदान देना न भूले। कहा जाता है कि सभासद की यह जीवनी शिवाजी के दूसरे पुत्र राजाराम के कहने पर 1694 में लिखी गई थी, और शिवाजी की इस उदारता के पक्ष में चूंकि कुछ आधारिक प्रमाण हैं, इस लिए उनके जीवनी लेखक द्वारा दी गई सूचना बड़े ऐतिहासिक महत्व की है।

आइए, अब अपने मूल विषय पर लौटें। राजा के धार्मिक अधिकार क्षेत्र की बात करते हुए स्मरण आता है कि 'कायस्थ प्रभुची बखर'[10] का, जिसके अनुसार बीजापुर के मुसलमान राजाओं को भी हिन्दुओं के धार्मिक मामलों को निपटाने के लिए यत्न करना पड़ता था। उदाहरण के लिए जब कोंकण में ब्राह्मणों तथा प्रभुओं के बीच विवाद खड़े हुए तब न्याय के लिए ये दोनों ही बीजापुर के स्थानीय अधिकारी के पास गए। अधिकारी मुसलमान था और उसने कहा कि वह उनके शास्त्रों के बारे में कुछ नहीं जानता। उसने उनसे यह भी कहा कि वे अपने मुख्य तीर्थ-स्थान बनारस जाएं, वहां अपने पण्डित से पूछें और उसका जो निर्णय होगा, उसका पालन वह स्वयं कराएगा। बखर में आगे कहा गया है कि वे दोनों बनारस गए, वहां पण्डितों की एक बड़ी सभा हुई और शास्त्रार्थ के बाद यह निर्णय दिया गया कि वास्तविक क्षत्रिय प्रभु जाति के लोग हैं, उन्हें वैदिक संस्कारों का लाभ मिलना चाहिए, और उन्हें पवित्र गायत्री मंत्र भी सिखाया जाना चाहिए।[11] कहा जाता है कि निर्णय से ब्राह्मणों को सन्तोष था और वे प्रभुओं के समुचित संस्कार आदि कराने को राजी हो गए। बखर में आगे यह भी कहा गया कि इस निर्णय का पालन कराया गया।

शहाजी के विवाह सम्बन्धी घटना भी एक इसी प्रकार का उदाहरण है। वह घटना कुछ दूसरी बातों की वजह से काफी दिलचस्प है, इसलिए इसका उल्लेख विस्तार से होना चाहिए।[12] शहाजी के पिता मालोजी तथा भाई विठोजी, दोनों निजाम-शाही सरकार के अन्तर्गत जाधवराव तथा मनसबदार की सेवा में नियुक्त थे। 1598 में एक अवसर पर, जब जाधवराव के घर 'रंग' का 'शिमगा' त्यौहार मनाया जा रहा था, और मालोजी तथा शहाजी भी उपस्थित थे, तब मेजबान ने शहाजी को, जो उस समय पांच वर्ष के थे और बहुत सुन्दर थे, अपनी तीन वर्षीया बेटी के बगल में बैठा दिया। बातचीत के दौरान उन्होंने यह भी कहा, जैसा कि ऐसे अवसरों पर लोग अक्सर कह जाते हैं, कि इनकी जोड़ी कितनी अच्छी रहेगी और लड़की से पूछा कि क्या वह शहाजी को अपने वर के रूप में स्वीकार करेगी। तुरन्त मालोजी तथा भाई विठोजी ने उपस्थित मेहमानों के बीच घोषणा की कि जाधवराव उस जोड़ी के पक्ष में हैं और मेहमानों से निवेदन किया गया कि वे उसके साक्षी बनें। पर जाधवराव की पत्नी को यह सम्बन्ध मंजूर न था और उन्होंने पति से कहकर मालोजी तथा विठोजी को नौकरी से हटवा दिया। उन्होंने नौकरी छोड़ दी, पर कुछ दिनों बाद ही काफी सम्पन्न हो गए, उनकी दो-तीन हजार सिपाहियों की अपनी सेना हो गई और दूसरों से भी मदद मिली। तब वे दौलताबाद के निकट एक स्थान पर गए और कुछ सूअर काट कर उन्होंने निजाम के नाम एक चिट्ठी के साथ मस्जिद में फेंक दिया। चिट्ठी में लिखा था कि जाधवराव से उनका वह विवाह सम्बन्धी समझौता हुआ था, और यदि इसका पालन न कराया गया तो वे दूसरी मस्जिदों को भी इसी तरह नापाक" कर देंगे। निजाम ने तुरन्त कार्रवाई की और जाधवराव को आदेश दिया कि वह समझौते का

पालन करे। अन्त में निजाम की ही देखरेख मे शान के साथ शादी हुई, और मालोजी तथा विठोजी निजाम की सेना मे नियुक्त हो गए। इस सम्बन्ध में जो कुछ भी हुआ वह बड़ा अजीब तथा अनियमित था, पर इससे स्पष्ट होता है कि विवाह सम्बन्धी नाजुक मामलो में भी हिन्दू प्रजा मुसलमान राजाओ के पास शरण के लिए जाती थी, और जिस रूप मे भी हो उन्हें उनस पूरी सुरक्षा मिलती थी।

खरड़ा की लड़ाई के बखर में एक उद्धरण है जिसके अनुसार धार्मिक मामलों में राज्य के इस अधिकार क्षेत्र को न जाने कितनी वार इस्तेमाल किया गया और हर वार देखा गया कि राज्य ने न्याय का ही पक्ष लिया। तालेगांव में कहा जाता है कि एक ब्राह्मण स्त्री थी जिसका एक मुसलमान से सम्बन्ध था।[54] वहा के ब्राह्मणों ने पूना में नाना फड़नवीस से शिकायत की और तथ्य को बतलाते हुए अपनी स्वाभाविक शैली में यह भी जोड़ दिया कि अव ब्राह्मणों के दिन लद गए। नाना को उस शिकायत पर विश्वास न हुआ फिर भी जाच पड़ताल के लिए उन्होने फैसले के लिए एक पंच नियुक्त कर दिया।[55] पचो को मुसलमानों ने रिश्वत दे दी और अन्तिम फैसले के घोषित होने से पूर्व ही यह लगने लगा कि फैसला मुसलमानों के हक में जाएगा और यह मान लिया जाएगा कि शिकायत झूठी थी। इस पर 'सौ या दो सौ' ब्राह्मण एकत्र होकर पूना गए। वहा वे पेशवा के खेमे के सामने जाकर खड़े हो गए। उस समय पेशवा अपनी सेना के साथ उस अभियान पर जाने वाले थे जिसका अन्त खरड़ा में होने वाला था। ब्राह्मण दोपहर में मशालें जलाकर खेमे के सामने बैठ गए। पेशवा जब बाहर आए तब ब्राह्मणों ने 'हर हर महादेव' का नारा लगाना शुरू कर दिया। पेशवा ने जब पूछा कि वे क्या चाहते है तब उन्होंने जवाब दिया कि वे तालेगांव से आए है और पूरा किस्सा कह सुनाया। उन्होने आगे कहा कि दिन मे भी उन्होने मशालें इस लिए जला रखी हैं कि राज्य में चारों तरफ अन्धेरा है—अर्थात न्याय समाप्त हो गया है। तुरन्त आज्ञा दी गई कि नाना को बुलाया जाए और बाद में पंचों तथा उस स्त्री को भी बुलाया गया। वह पहले तो कुछ न बोली पर जब कहा गया कि बेंत की छड़ी लाई जाए[56] तब उसने अपने अपराध को स्वीकार कर लिया। पेशवा ने फैसला दिया कि दोनः अपराधी है और उनके फैसले को यज्ञेश्वर शास्त्री का भी समर्थन मिला। उसके अनुसार पुरुष को गधे पर बिठा कर, उसके मुह को गधे की पीठ की ओर[57] कर उसे पूना की गलियो में घुमाया जाए और फिर उसे एक हाथी के पैर में बांध कर मरवा डाला जाए। चूंकि स्त्री को मौत[58] की सजा नही दी जा सकती, इसलिए उसे राज्य से निकाल दिया जाए।

ये सभी घटनाएं जिनका हमने उल्लेख किया है, इस बात का उदाहरण हैं, कि धार्मिक मामलों के विविध पहलुओ पर भी मराठा राजाओं [illegible] दंत्र था। इनसे यह भी स्पष्ट होता है कि य राजा जिन्हें ईसाई अभिव्यक्ति के

'चर्च तथा राज्य दोनों के प्रधान' कहा-जा सकता है, विधान बनाने तथा न्याय दिलाने दोनों प्रकार की शक्तियां अपने पास रखते थे,और इन कार्यों को वे पंचों के माध्यम से सम्पादित करते थे । इसी प्रकार उनके प्रशासनिक अधिकार विभागीय मंत्रियों के पास होते थे और प्रशासन का काम-काज सरकारी कारकूनों के माध्यम से देखा जाता था। यहा यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जिन दस्तावेजों से यह सारी सूचना मिली है वे शिवाजी से लेकर सवाई माधवराव तक मराठा शासन के पूरे काल से सम्बन्ध रखती हैं ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि इन मराठा राजाओं को, जिनका धार्मिक अधिकार क्षेत्र इतना व्यापक था, और सक्षेप में जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, क्षत्रिय माना जाता था। इस बात का प्रमाण हाल ही में प्रकाशित कुछ दस्तावेजों से मिलता है। सीधे शिवाजी से सम्बन्ध रखने वाली दस्तावेजो को ध्यान से देखने पर [59] लगता है कि शिवाजी की ओर से रखे गए उनके क्षत्रिय होने के दावे को सभी लोग स्वीकार नही करते थे, गोकि नीति तथा कार्य कुशलता की दृष्टि से उनका शायद क्षत्रिय माना जाना ही ठीक था। अनन्त सभासद[60] तथा चित्रगुप्त[61] रचित उनकी जीवनियों के अनुसार शिवाजी के परिवार की-उत्पत्ति के बारे में जो खोजबीन हुई थी और यह पता चला था कि वह राजपूतों के सिसौदे[62] वश के थे जो उदयपुर में राज्य कर रहे थे,[63] वह उनके राज्याभिषेक के निश्चय हो जाने के बाद ही शुरू की गई थी। मल्हार रामराव चिटनिस की कहानी भी शिवाजी के क्षत्रीय होने की मान्य धारणा को ही समर्थन देती है, पर उसमें भी कहा गया है कि राज्याभिषेक के सस्कारों के लिए जब बनारस के महान पण्डित गागाभट्ट को निमन्त्रित किया गया तो नीति सम्बन्धी कुछ बातें समझ लेन के बाद ही वह आने को तैयार हुए ।[64] राज्याभिषेक सस्कार की प्रारम्भिक कार्यवाही के पहले कुछ बातें समझ लेने के बाद भी एक बात को स्पष्ट करा लिया गया था। पण्डितों को यह खटका था कि क्षत्रियों के लिए अनिवार्य यज्ञोपवीत सस्कार को शिवाजी के लिए उस समय क्यो कराया जा रहा है जब वह '46 अथवा 50 वर्ष' के हो चुके हैं और उनके दो बेटे भी हैं। यह एक अनियमितता थी किन्तु फिर सभी पण्डितों तथा ब्राह्मणो ने सस्कार के लिए अपनी सम्मति दे दी।[65] इस बात की कोई प्रामाणिक सफाई अभी तक नही मिली है कि वे पण्डित इसके लिए राजी कैसे हुए । यहां यह भी उल्लेखनीय है कि आगे भी शिवाजी के परिवार के सिर्फ उन्ही सदस्यों का यज्ञोपवीत हुआ जिन्हें गद्दी पर बैठना था,[66] बाकी का नहीं। किन्तु उनके मामले में भी यज्ञोपवीत संस्कार का उल्लेख राज्याभिषेक के सन्दर्भ में ही आया है।[67] इन तथ्यों को देखते हुए कृष्णाजी अनन्त सभासद[68] तथा मल्हार रामराव चिटनिस के कथन पर सन्देह व्यक्त करना अनुचित न होगा।[69] बाद में सतारा के राजाओं[70] तथा शिंदे[71] तथा नागपुर के भोंसले और घोरपड़े वश के लोगों ने भी अपने क्षत्रिय होने का दावा रखा पर इसमें कोई विशेष आश्चर्य की बात नही थी।

इन सभी बातों का ब्योरा सभासद रचित जीवनी में दिया गया है। उसने लिखा है कि शिवाजी ने बनारस के गागाभट्ट[72] की इतनी आवभगत की कि वह बहुत खुश हुए। गागाभट्ट का ही यह भी सुझाव था कि जब एक मुसलमान बादशाह को सिंहासन पर बिठाया जा सकता है और वह राजसत्ता के प्रतीक स्वरूप छत्र[73] का इस्तेमाल कर सकता है तब शिवाजी को उनके औपचारिक राजसी चिह्नों से वंचित क्यों किया जाए।[74] गागाभट्ट के सुझाव को मानकार अभिषेक का औपचारिक निर्णय ले लिया गया तब शिवाजी के परिवार की उत्पत्ति की जानकारी प्राप्त करना और उन्हें क्षत्रिय घोषित करना भी आवश्यक हो गया। इन सभी बातों को एक साथ ध्यान से देखने से लगता है कि धार्मिक नियमो तथा तथ्यों को एक पूर्व निश्चित राजनैतिक अभिप्राय के लिए तोड मरोड कर रखा गया है।[75]

हमारे सामने जो दस्तावेज हैं उनसे इस बात के भी उदाहरण मिलते है कि तथ्यों को तोडा-मरोड़ा ही नही गया है, बल्कि कुछ कम तथा कुछ अधिक महत्व के धार्मिक नियमो का खुला उल्लंघन भी किया गया है। एक घटना तो उस समय घटी जब साभाजी के लिए निवास का प्रबन्ध किया जा रहा था। दिल्ली से शिवाजी तब तक भाग निकले थे और चाहते थे कि किसी तरह सांभाजी भी निकल भागें ताकि रास्ते की सभी बाधाए दूर हो जाएं। औरगंजेब के कुछ आदमियो को शक हो गया था कि वह ब्राह्मण काशीपत, जिसकी देखरेख में वह रखे गए थे, के बेटे नहीं थे। उनके सन्देह को दूर करने के लिए काशीपंत को साभाजी के साथ एक ही थाली मे खाना पड़ा। ब्राह्मण ने अपने अपराध को कम करने के लिए केले के पत्ते पर थोड़ा सा भुना हुआ, फुलाया हुआ चावल[76] (पोहे) दही के साथ[77] औरंगजेब के आदमियों के समक्ष खाया। उनका सन्देह दूर हो गया। अनुचरो ने अनुकूल रपट दी और सांभाजी बच गए। पर शिवाजी के एक जीवनी लेखक, चित्रगुप्त का कथन है कि ब्राह्मण काशीपंत ने बाद मे अपने अपराध के लिए चुपचाप प्रायश्चित किया।[78] उसी लेखक ने यह भी लिखा है कि साभाजी की पोशाक ब्राह्मणों वाली थी,[79] उन्होंने अपनी कमर मे 'धोतर'[80] बाध रखी थी और जनेऊ पहना हुआ था, गोकि उनका यज्ञोपवीत संस्कार बाद में 1679 में शिवाजी ने इस विचार से कराया था कि वह युवराज होकर गद्दी के अधिकारी हो सकें।[81]

शिवाजी के परिवार में एक इसी प्रकार की घटना पहले भी घटी थी जब शहाजी का देहान्त हुआ था और बेटे की प्रार्थनाओं के बावजूद जीजाबाई सती होकर अपना बलिदान करना चाहती थी। चित्रगुप्त रचित जीवनी[82] के अनुसार जीजाबाई को यह समझाकर मनाया गया कि वह नही रहेंगी तो शिवाजी का जीवन भी खतरे मे पड़ जाएगा और साम्राज्य भी समाप्त हो जाएगा। बाद में

पेशवा शक्ति के दिनो मे भी कुछ इसी तरह की बातें हुईं।
पेशवाओं के सैनिक सेवा में भी कुछ इसी तरह की बातें हुई। ब्राह्मण
पेशवाओं के सैनिक सेवा में आने के बाद तो धार्मिक नियमों के इसी प्रकार न जाने कितने उल्लंघन हुए, और फिर तो लोग उन्हें उल्लंघन कहना ही भूल गए।[83] यह बात इस तथ्य से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि प्रतिष्ठित राम शास्त्री ने धार्मिक कृत्यों में पेशवा माधवराव के अत्यधिक समय व्यतीत करने का विरोध किया था[84] और कहा था कि यह सब पेशवाओं के कर्त्तव्यों से मेल नहीं खाता। तात्पर्य यह है कि धर्म द्वारा सम्मत मार्ग से विचलन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी और वह पलट कर वापस नहीं आ सकती थी।[85] उसी पेशवा माधवराव के बारे में ही एक और कहानी है। वह जब हैदरअली के विरोध में अभियान की तैयारी कर रहे थे तब उन्होंने नागपुर के भोसले प्रधान को एक पारम्परिक तलबनामा भेजकर[86] उनसे मराठा सेना में सम्मिलित होने का अनुरोध किया। पूना में भोसले के प्रतिनिधि भूतपूर्व मंत्री, सखाराम बापू से राय-बात करने गए कि क्या करना चाहिए। वहीं पेशवा का कारकून भी बैठा था, इसलिए सखाराम अपनी स्पष्ट राय देने से डर रहे थे। किन्तु फिर उन्होंने अपनी राय ऐसे ढंग से व्यक्त की कि प्रतिनिधि समझ गया और कारकून न समझ सका। वहीं बैठे दो व्यक्ति शतरंज खेल रहे थे। सखाराम ने उनमें से एक की ओर इशारा करते हुए कहा कि चूंकि उसके शत्रु के प्यादे[87] शक्ति में बढ़ गए हैं, इसलिए वह अपने राजा को एक-दो चाल पीछे चला दे। भोसले का प्रतिनिधि इशारा समझ गया। उसने अपने स्वामी को लिखा कि वह पेशवा के तलबनामे पर पूना न आए, बल्कि नागपुर से आगे बढ़ आए हो तो थोड़ा पीछे हट जाएं। ऐसा ही किया गया और माधवराव को, जो अपनी दिलचस्पी की हर बात के विषय में पूरी-पूरी सूचना रखने के लिए विख्यात थे,[88] यह खबर मिली कि भोसले राजधानी को लौट गए है और यह भी सूचना मिली कि ऐसा उन्होंने सखाराम के परामर्श पर किया, गोकि यह दूसरी सूचना कारकून से पूछताछ करने के बाद ही प्राप्त हो सकी। माधवराव अत्यन्त प्रबल सकल्प वाले व्यक्ति थे। उन्होंने तुरन्त भोसले के प्रतिनिधि को बुला भेजा और उसे सारी बात बताते हुए कहा यदि "तुम्हारे स्वामी पन्द्रह दिनो के अन्दर पूना आ जाते है तो ठीक है, नहीं तो मुझे इस बात की जरा भी परवाह न होगी कि तुम ब्राह्मण[89] हो, और मैं तुम्हारे सिर को खेमे के खूंटे से भुरता कर दूंगा।"[90]

कहा जा सकता है कि विषय को कुछ और आगे ले जाया गया जब एक ब्राह्मण कारकून ने एक अन्य ब्राह्मण परशुराम भाऊ पटवर्धन के देहान्त पर लिखा[91]: "उसका अन्त अद्भुत था, क्योंकि उसने पेशवाओं की सेवा की, और क्षत्रिय धर्म को अन्त तक निभाया।"[92] पर इन लौकिक ब्राह्मणों की बात छोड़ भी दें[93] तो भी हम देखते

कि बहुत से धार्मिक ब्राह्मण भी धार्मिक होते हुए सांसारिक, या कम से कम राजनैतिक धंधे में लगे हुए थे और वे थे कायगांव के पुरोहित और धावादसी के स्वामी। दूसरे के बारे में मैंने सिर्फ जबानी सुना है, ग्रांट डफ की एक टिप्पणी में पढ़ा है और हाल ही प्रकाशित एक बखर मे भी देखा है।[94] मैंने वह मूल स्रोत तो नहीं देखा जिसका इन रचनाओ मे संकेत है। हा, पहले के बारे में छपी कुछ चिट्ठियों के आधार पर कहा जा सकता है कि वह पेशवाओं को सूद पर रुपया देता था,[95] वे उससे राजनयिक तथा व्यक्तिगत मामलो मे सलाह लेते थे और वह भी सार्वजनिक मामलो मे गहरी रुचि रखता था।[96]

इसी तरह का एक दूसरा प्रसग भी कम उल्लेखनीय नहीं। हाल ही में प्रकाशित कछ कागजो मे पेशवा सवाई माधवराव की एक चिट्ठी है। पत्र उनकी दादी गोपिकाबाई का है जिसमे उनके अनुरोध पर उन्होंने लिखा है कि उन्हे समाज में कैसा व्यवहार करना चाहिए। पोते को वृद्धा महिला की, जो बालाजी बाजीराव की विधवा थीं, एक सलाह यह थी कि उन्हे सन्ध्या-पूजा आदि में ज्यादा समय नही बिताना चाहिए। गृह देवताओ की दैनिक पूजा गृह पुरोहितों को करने देना चाहिए और उन्हे केवल तुलसी को जल चढाना चाहिए। घर की एक बुजुर्ग महिला द्वारा उस युवा को, जो अभी लिखना-पढना सीख ही रहा था, दिए गए इस निर्देश से यह तथ्य अनोखे ढंग से स्पष्ट होता है कि उस समय पेशवाओ के परिवार मे समय को देखते हुए धर्म के कठिन सिद्धान्तो को कितना ढीला कर दिया गया था।[97] गोपिकाबाई एक अत्यन्त व्यावहारिक महिला थीं, उनकी बुद्धि तेज थी और वह अपने संकल्प की बड़ी प्रबल थी।[98] उन्होंने अवश्य देखा होगा कि पेशवा राज्य के इतिहास में अनेक महत्वपूर्ण लोगों ने भी अपने जीवन की आदतो को कैसे बदल लिया था।[99]

भोजन सम्बन्धी कुछ नियमो में भी छूट दे दी गई थी और इस विषय पर यहां एक या दो आवश्यक बातों का उल्लेख किया जा सकता है। मेरी पहली बात तो मल्हार रामराव चिटनिस रचित शाहू की जीवनी[100] की सम्पादकीय टिप्पणी से ली गई है। प्रतिनिधि, परशुराम त्रिम्बक, से शाहू इसलिए नाराज हो गए थे क्योंकि त्रिम्बक का बेटा कोल्हापुर से जा मिला था। शाहू की आज्ञा से उन्हें मौत के घाट उतारा जा रहा था कि वहा तभी खण्डो बल्लाल चिटनिस पहुंच गए और प्रतिनिधि का पक्ष लेकर उन्होंने उनकी रक्षा की।[101] कहा जाता है कि तभी से [illegible] चिटनिस के परिवार का एक मुख्य सदस्य प्रतिनिधि परिवार में श्राद्ध आदि के [illegible] के साथ काफी दिनों तक निमंत्रित होता रहा। खरड़ा की [illegible] के [illegible] ऐसे प्रसंगों का उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि [illegible] जाते थे। विजय के बाद नाना फड़नवीस पेशवा को [illegible]

मान-सम्मान देने के लिए ले जाया करते थे। उन्हीं में दो सरदार थे सिंधिया के—एक का नाम था जीवबा दादा और दूसरे का नाम था लाखोबा नाना। उनके यहा पेशवा को 'फराल' के लिए निमंत्रित किया गया—अर्थात् उस भोज के लिए जिसमें सास्कारिक कठिनाइया बहुत कम होती थी। पेशवा ने नाना की ओर मुखातिब होते हुए कहा, "ये 'शेनवी' हैं,[102] इनके यहा खाना कैसे खाया जा सकता है?" नाना ने जवाब दिया, "इन्हें ब्राह्मण रसोइयों ने तैयार किया है। यदि वे 'शेनवी' हैं तो क्या हुआ ? जीवबा के अनुरोध को ठुकराया नहीं जा सकता। उन्होंने अपनी तलवार भली-भांति चलाई है। इन कठिनाइयों को अवश्य दूर कर देना चाहिए।" उसके बाद पेशवा तथा उनके साथ गए ब्राह्मण फराल के लिए बैठे। पेशवा ने तो बस कुछ औपचारिकता के लिए खाया पर दूसरों ने स्वाभाविक ढंग से भोजन किया। बखर-के वृतान्त मे लिखा है कि सभी लोगों ने यह महसूस किया कि जो कुछ भी हो रहा है वह नियमों के विरुद्ध है और जो हुआ उसके लिए यही कहा गया कि यह राजनीति में जरूरी था। फिर पेशवा जीवबा दादा के खेमे से परशुराम भाऊ पटवर्धन के खेमे की ओर गए।[103] उन्हें यहा भी भोजन का निमंत्रण मिला। यहा जाति सम्बन्धी कोई कठिनाई नहीं थी क्योंकि दोनों उसी जाति वर्ग के थे। किन्तु पेशवा ने नाना से कहा, "परशुराम मातम मना रहे हैं।[104] क्या करना चाहिए ?" नाना ने एक बार फिर एक व्यावहारिक राय दी—"ऐसे अवसर पर भाऊ की इच्छा को ठुकराना अनुचित होगा। बाद में कोई रास्ता निकाल लिया जाएगा।"[105] अन्त मे पेशवा मान गए और वह तथा उनके सभी आदमियों ने रात का खाना वही खाया। सूतक के कारण भाऊ मेहमानों की पंक्ति से दूर बैठे रहे। बखर के लेखक ने लिखा है कि पेशवा के व्यवहार से भाऊ अपने भतीजे की मृत्यु का दुख भूल गए। परशुराम भाऊ ने पेशवा से कहा[106] कि उनका इस तरह मातम के समय उनके घर आकर भोजन करना उनकी सेवाओं का समुचित पुरस्कार है।[107]

यहा इसी तरह की मुझे एक दूसरी बात याद आ रही है जिसकी ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा। यद्यपि उसका कोई स्पष्ट सबूत हमारे सामने अब नहीं है फिर भी मैं उसका उल्लेख करना चाहूंगा। पेशवा शासनकाल में जो एक शानदार जलसा हुआ था वह सवाई माधवराव के विवाह के अवसर पर हुआ था। पेशवा के बखर[108] द्वारा उस भव्य समारोह का सविस्तार वर्णन किया गया है। हमारे पास 1782 का एक विवरण 'पत्र भी है जिसमें उस समारोह के विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत निर्देश है और कहा गया है कि वह शानदार विवाह समारोह किस प्रकार गर्व, गौरव तथा गरिमा के साथ मनाया जाए। यह भी बताया गया है कि अवसर के अनुसार किस प्रकार के इत्रों का प्रयोग हो, कैसा जलपान तथा मनोरंजन हो और किन लोगों की देखरेख हो।[109] उसमें यह भी कहा गया है कि सरदार, सिलेदार

मराठा, मुसलमान, अली बहादुर[110] तथा अन्य लोग जब एकत्र हो जाएं तो उ
वधू के पिता के घर भोजन तथा 'फराल' के लिए ले आया जाए, और उन्हे
'फराल' तथा 'भोज' के लिए उचित अवसरो पर राजमहल मे भी निमंत्रित किया जाए।
यह भी कहा गया है कि नवाब, भोसले, होल्कर, उच्च पद वाले सिलेदार, सर्कार्जुन,
मराठा और मुसलमान भी निमंत्रित हो, और उपयुक्तता को ध्यान मे रखते हुए वे
वधू के पिता के घर, राजमहल मे तथा भोज और नृत्य देखने आदि के लिए ले जाए
जाएं। उन्हें निमंत्रित तो किया ही जाए, उनके घर मिठाइया आदि भी भेजी जाएं।
यह स्पष्ट नही है कि मराठा और मुसलमान आदि विभिन्न प्रकार के मेहमानो को
कैसे निमंत्रित किया गया और उन्हे किस प्रकार से भोजन परोसा गया। इसलिए
स्पष्ट नही है कि वे सभी एक साथ बैठे या अलग-अलग, और क्या उन्हे एक ही पात्र से
परोसा गया हो।[111] लगता यही है कि मुसलमान तथा मराठा दोनो ही न राजमहल
तथा वधू के पिता के घर वैवाहिक भोज मे एक ही साथ बैठकर खाना खाया होगा।
विवरण पत्र से यह भी नही लगता कि उन्हे ठहराने का प्रबन्ध भी अलग-अलग किया
गया हो, अथवा मुसलमानो को ब्राह्मणो के साथ न ठहराया गया हो।

भोज के विषय को छोड़कर आइए, अब विवाह के अधिक महत्वपूर्ण विषय पर
आए। यहा भी यह लगता है कि पेशवाओ ने रिवाज मे कुछ परिवर्तनो की शुरुआत
भी की, पर वह चल न सकी। यहा मेरा सकेत मस्तानी के साथ बाजीराव के विवाह
की ओर नही है, मेरा सकेत बालाजी बाजीराव की ओर है जो 'चित्पावन' अथवा
ब्राह्मणो के कोकणस्थ वर्ग अर्थात् देशस्थ थे।[112] और कहा जाता है, गोकि इसका
कोई लिखित प्रमाण नही मिलता, कि बालाजी ने एक कन्हाड़ लडकी से इसलिए
शादी की कि ब्राह्मणो के तीन बड़े वर्ग—देशस्थ, कोकणस्थ तथा कन्हाड़े—एक
हो सके। पर उस अभिप्राय की पूर्ति न हो सकी और एक वर्ग का दूसरे वर्ग मे शादी
करना[113] सामान्यतया अभी भी कोई बहुत अच्छा नही माना जाता।

यह बडी अजीब बात है कि पेशवा शासन के दिनो मे भी बहुत से ब्राह्मण ऐसे
हुए थे जो साधारण धार्मिक सस्कार भी कराने में असमर्थ थे। परशुराम भाऊ पटवर्धन
के चालीस दिनो के एक चित्रण में, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, कहा गया है कि
उस बहादुर योद्धा के दाहसंस्कार के लिए जब लकड़ी इकट्ठी कर ली गई, और बहुत
से भिक्षुक तथा पुरोहित ब्राह्मण भी उपस्थित हो गए, तब कारकून नरो हरि करन्दीकर
ने शरीर का अन्तिम संस्कार समुचित मंत्रो आदि के साथ कराना चाहा, पर इसके
लिए कोई अच्छा ब्राह्मण न मिला, और इसलिए शरीर को अग्नि को पवित्र
बिना ही जला दिया गया।[114]

अज्ञान का एक ऐसा ही उदाहरण और मिलता है, यद्यपि यह उतना असम्य नहीं। वह सुप्रसिद्ध स्वामी धावादासी—जो बाजीराव प्रथम तथा अन्य व्यक्तियों के 'महापुरुष' थे—की मृत्यु से सम्बन्धित है। धावादासी के ब्रह्मेन्द्र स्वामी के दफ्तर में लिखा है कि मृत्यु के बाद उपस्थित ब्राह्मणों ने उनका संस्कार हाथ में कर्मकाण्ड पुस्तिका लेकर किया, किन्तु इस सहारे के बावजूद उन्होंने अनेक बड़ी त्रुटियां कीं। शाहू के एक सवाल पर जब उन्होंने घोषणा की कि संस्कार पूरा हो गया तब राजा ने पूछा कि क्या उनकी पुस्तक में खोपड़ी को शंख से तोड़ने के बारे में कुछ नहीं लिखा है, क्योंकि उन्होंने सुन रखा है कि संन्यासी का संस्कार ऐसे ही किया जाता है। जब ब्राह्मणों ने उत्तर दिया कि पुस्तक मे इस प्रकार का निर्देश है पर वे अपनी असावधानी में उसे भूल गए तो राजा ने उनके अज्ञान तथा लापरवाही के लिए उन्हें खूब लताड़ा। पर, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है उनका यह अज्ञान अक्षम्य नही था, जबकि परसुराम भाऊ के देहान्त सम्बन्धी संस्कार कराने वालो के अज्ञान को क्षमा नही किया जा सकता। इस प्रकार के संस्कार आए दिन होते रहते थ, इसलिए ब्राह्मणों का उनके बारे में कुछ न जानना आश्चर्यजनक था। हा, संन्यासी के देहान्त सम्बन्धी संस्कारों की आवश्यकता रोज नही पड़ती थी। फिर भी उन्हें उनसे अनजान नही होना चाहिए था; विशेषकर उस समय और स्थान को देखते हुए जहा संन्यासी की मृत्यु हुई थी। ऐसा भी नही कि उस समय उस विद्या की माग न रही हो जिसकी कमी उन ब्राह्मणों में पाई गई। उस समय यही वास्तविक दशा थी; और इसी प्रकार की स्थिति हमारे देश में आज भी कहीं-कहीं दिखाई देती है। पर यह नहीं सोचना चाहिए कि यही हाल पुराने समय में भी था।[115] जो भी हो, जो तथ्य सामने हैं, वे उल्लेखनीय हैं।[116]

अन्त्येष्टि संस्कार सम्बन्धी इन्ही घटनाओ के साथ एक उस घटना की भी याद आती है जो सुप्रसिद्ध बापू गोखले के चाचा धोंडोपंत गोखले की मृत्यु पर घटी थी। धोंडोपत की धोंडी वाघ नामक एक लुटेरे ने हत्या की थी। बापू गोखले भी उनके साथ थे पर वह उनको बचा न सके। बापू ने उनका दाह संस्कार घटनास्थल पर ही कर दिया और पूना लौट कर जाति के रस्म के अनुसार बाकी के संस्कार आदि करना चाहा। किन्तु धोंडोपंत की विधवा को यह असहनीय था। उसने बापू को बहुत फटकारा और आज्ञा दी कि जब तब वह धोंडी वाघ को मारकर धोंडोपंत की मृत्यु का बदला नही लेते तब तक कोई भी अन्य संस्कार नहीं किए जाएंगे। इसलिए संस्कारों को स्थगित कर दिया गया। जल्दी ही बापू को धोडी वाघ का सामना करने का भी अवसर मिल गया। धोडी वाघ मारा गया।[117] बापू ने उसके सिर को एक भाले की नोक पर रखकर धोंडोपंत गोखले की विधवा लक्ष्मीबाई को दिखाया। विधवा को सन्तोष हुआ और तब जिन संस्कारों को स्थगित किया गया था, उन्हें पूरा किया गया।[118]

परशुराम भाऊ पटवर्धन की जीवनी में भी एक घटना का उल्लेख है जिसकी ओर ध्यान जाना चाहिए, यद्यपि उस घटना के प्रमाण-स्वरूप मैंने अभी तक को मौलिक प्रपत्र नही देखा है। मराठा देश के लोग उस घटना से भली-भांति परिचित हैं। मैंने इसका विवरण हाल ही प्रकाशित, वी० डी० निगुडकर रचित परशुराम भाऊ की जीवनी में पढ़ा है।[119] परशुराम भाऊ की सबसे बड़ी बेटी बयाबाई बारामती के जोशी परिवार में ब्याही गई थी। उस समय वह केवल सात या आठ वर्ष की रही होगी। विवाह के करीब पन्द्रह दिन के अन्दर ही पति का देहान्त हो गया। अतः सामान्य रिवाज के अनुसार वह बाल विधवा हो गई। कुछ दिनों बाद परशुराम भाऊ ने उस अभागी लड़की की कहानी सुप्रसिद्ध राम शास्त्री को, जिनका उल्लेख इस निबन्ध में किया जा चुका है, सुनाई। उनका हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने अपनी यह राय घोषित की कि बालिका के पुर्नविवाह में कोई हर्ज नही। उसके बाप परशुराम भाऊ ने उस बालिका की समस्या बनारस के पण्डितों के पास भेजी। उनकी राय भी वही रही। किन्तु इन सब के बाद भी परशुराम भाऊ ने बालिका का पुर्नविवाह कराने की अपनी इच्छा त्याग दी, क्योंकि उनसे कहा गया कि विधवाओं का पुर्नविवाह उस रीति के विपरीत है जो बरसों से चली आ रही है और उन्हें उस रीति को तोड़कर स्वजनों को नाराज नही करना चाहिए। फिर भी यह घटना बड़े ऐतिहासिक महत्व की है। परशुराम भाऊ पेशवाओं के दरबार के अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्तियों में थे। उनके जीवनी लेखक के अनुसार वह अपने धर्म तथा पुरखों में भी अटूट आस्था रखते थे।[120] इसलिए उनका इस प्रकार स्थापित नियमों से हट जाना[121] अपने आप में काफी महत्वपूर्ण बात थी। उस समय के लोगों के मन पर भी उन नियमों की अमिट छाप थी। और भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य था सुप्रसिद्ध तथा सम्माननीय विद्वान राम शास्त्री का उनको समर्थन मिलना —वही राम शास्त्री जिनका सम्पूर्ण मराठा साम्राज्य में शुरू से अन्त तक काफी मान-सम्मान था। यही नही, बनारस के शास्त्रियों ने भी एक मत से अपनी राय नियम को तोड़ने के पक्ष में ही दी। दूसरी ओर इस तथ्य से यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय के हिन्दू समाज की जो दशा थी उसमें पर्याप्त कारणों तथा विद्वानों के समर्थनों[122] के बावजूद परशुराम भाऊ पटवर्धन जैसे समर्थ व्यक्ति भी अपने आप और एकमात्र अपने दायित्व पर, किसी नए मार्ग पर चलने में कितने असमर्थ थे।

यहां इसी तरह की एक और घटना की ओर ध्यान जाता है, गोकि इस घटना के बारे में भी मुझे कही कोई मौलिक, लिखित प्रमाण नहीं मिला है। वह घटना एक ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दे से सम्बन्ध रखती है जिसको लेकर आज का हिन्दू समुदाय भी एक हद तक चिन्तित रहता है। इसके बारे में मुझे एकमात्र सूचना

'ओरिएण्टल मेमायर्स' से प्राप्त हुई है।[123] इसका लेखक फारबेस 1766 से आगे कई वर्षों तक पश्चिमी भारत में रहा था। उसने लिखा है, "राघोबा दादा ने दो ब्राह्मणों को राजदूत बनाकर इंग्लैण्ड भेजा। उनके भारत लौटने पर उन्हें सुन्दर स्वर्ण से निर्मित स्त्रीलिंग, अथवा पवित्र योनि से गुजरना पड़ा। इस अग्नि-परीक्षा से गुजरने के बाद[124] तथा ब्राह्मणों को बहुमूल्य उपहार आदि देने के बाद ही उन्हें अपनी जाति में वापस आने की अनुमति दी गई, क्योंकि उन्होंने इतने सारे भ्रष्ट देशों की यात्राओं के दौरान अपनी पवित्रता खो दी थी।" इससे स्पष्ट है कि उन पुराने अच्छे दिनों में, जब ब्राह्मण राजाओं का शासन था, 'काला पानी' को पार करना कोई अत्यन्त अशोचनीय अपराध नहीं माना जाता था, और पेशवाओं के राज्य में आज की इस रीति को भी मान्यता नहीं थी कि जो एक बार समुद्र-यात्रा पर चला गया, उसे फिर जाति मे वापस लिया ही नहीं जा सकता।

मैंने चूंकि यहां कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें यह बताया है कि, नियमों की कट्टरता को किस तरह कभी ज्यादा और कभी कम ढीला किया गया था,[125] इसलिए मुझे यहां यह भी बताना आवश्यक है कि कहीं-कहीं इसके बिलकुल विपरीत भी हुआ है। हमारे सामने जो दस्तावेज हैं उनसे पता चलता है कि पेशवा परिवारों में विवाह अत्यन्त अल्प आयु में भी होते थे।[126] उदाहरणार्थ, बालाजी बाजीराव का विवाह नौ वर्ष की आयु में हुआ था; विश्वासराव का आठ की आयु में; बड़े माधवराव का नौ की आयु में; नारायणराव का दस की आयु में तथा सवाई माधवराव का आठ से थोड़ी अधिक की आयु में। और यह प्रथा पेशवाओं के परिवार में ही नहीं थी।[127] नाना फड़नवीस की एक संक्षिप्त जीवनी से ज्ञात होता है कि उनका विवाह दस की उम्र में हुआ था।[128] यह भी ज्ञात होता है कि एक पत्नी के मरने के तुरन्त बाद दूसरा अथवा तीसरा विवाह भी हो जाता था।[129] जहां तक विधवाओं का प्रश्न है, तो इस सम्बन्ध में हमें पेशवा शासन के अन्तिम कुछ वर्षों की महत्वपूर्ण घटनाओं की एक क्रमिक सूची में एक अजीब बात अंकित की गई मिली है।[130] श्रावण शुद्ध द्वादश, 1729 की तिथि के अन्तर्गत अंकित है कि नागझरी, पूना में विधवाओं का मुण्डन कर दिया जाता था। इस घृणित क्रिया के बारे में कुछ और सूचना मिलती तो अच्छा था। यह भी प्रतीत होता है कि शादियों में मनोरंजन के लिए नर्तकियों को बुलाया जाता था[131] और पुरुष के मरने पर उसकी पत्नियों को ही नहीं उसकी रखैलों[132] को भी सती होना पड़ता था।

यहां एकत्र किए गए तथ्यों तथा परिस्थितियों से मराठा समाज के शासनकाल के पुराने दिनों की सामाजिक तथा धार्मिक दशाओं पर प्रकाश पड़ता है। यह भी ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मणों का काफी बोलबाला था, और आज जैसी परिस्थितियां काफी कुछ उन दिनों भी थीं।[133] साथ ही यह भी देखा जाता है कि लोगों

ने पारम्परिक नियमों को तोड़ा भी—और आज भी लोगों को इस तथ्य पर विश्वास नहीं होता—और ऐसा इसलिए हुआ कि भारत में अंग्रेजी शासन के साथ पश्चिमी जीवन दर्शन का समावेश प्रारम्भ हो गया था।[134] मेरे विचार से उपर्युक्त बातों से संकेत मिलता है कि नियमों में यह जो ढीलापन आया उसकी शुरुआत उस काल के पहले ही हो गई थी, और उसका कारण शायद यह था कि मराठा शक्ति के दिनों में भी आसपास की जो परिस्थितियां अथवा दशाएं थीं उनमें उन नियमों का पालन कड़ाई के साथ नहीं हो सकता था, क्योंकि उन नियमों का जन्म सर्वथा भिन्न स्थितियों में हुआ था। यह असामंजस्य की स्थिति, मेरे विचार में, सबसे पहले कुछ खास परिस्थितियों में ही उठी होगी। किन्तु जब नियमों का उल्लंघन एक बार हुआ, और उसका परिणाम सामने आया, तब उनका उल्लंघन अन्य परिस्थितियों में भी किया गया, गोकि उन परिस्थितियों में उनकी सर्वथा आवश्यकता नहीं थी।

ध्यान में यह बात अवश्य आई होगी कि आचरण के पुराने नियमों से कटने के इन उदाहरणों में कुछ तो ऐसे हैं जो परिस्थिति अथवा आवश्यकता के अनुसार जानबूझ कर तोड़े गए हैं, पर कुछ अपने आप, पारम्परिक नियंत्रण में सामान्य ढीलापन आ जाने के कारण भी टूटे हैं। इन दोनों दशाओं में मुझे लगता है कि प्रगति की गति थोड़ी और तेज होती, और अपेक्षाकृत अधिक सरलता के साथ होती, यदि महाराष्ट्र का राजदण्ड पेशवाओं के हाथ से छिन न गया होता। और देशी शासकों के शासनकाल में तो, जिनकी शासन व्यवस्था के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है, यह परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप से, और कम संघर्ष के साथ,[135] सम्भवतः अप्रत्यक्ष रूप से भी, परिलक्षित होता। अंग्रेजों जैसे विदेशी शासकों के काल में यह सम्भव इसलिए नहीं हो पाता, क्योंकि उन्होंने शासन के नियम अपने लिए, अपनी सुविधा के लिए बनाए थे। हां, पाश्चात्य विज्ञान और कला, साहित्य तथा इतिहास के शिक्षण आदि का जो वातावरण चुपचाप बनता जा रहा था, उससे हम देशी शासकों के अन्तर्गत निस्सन्देह सर्वथा वंचित रहते।[136]

स्वर्गीय सर हेनरी समर मेन ने कई वर्ष पहले कहा था कि भारत में अंग्रेजी न्यायालयों की स्थापना के फलस्वरूप हिन्दू कानून का आगे विकास रुक गया था।[137] यहां सच्चाई के साथ कहा जा सकता है कि ब्रिटिश शासन-व्यवस्था का एक अप्रत्यक्ष प्रभाव यह भी हुआ कि हिन्दुओं की सामान्य सामाजिक प्रगति भी रुक गई। इन परिणामों के कारणों का विश्लेषण अभी इतना सरल नहीं, न ही यहां इस प्रकार के विश्लेषण के लिए कोई स्थान ही है। किन्तु मोटे तौर पर लगता है कि ब्रिटिश शासन का सामान्य असर उन विभिन्न शक्तियों को कमजोर करने की ओर रहा है जो एक समुदाय के अन्तर्गत एक अन्य समुदाय के रूप में सक्रिय थीं।[138] दूसरी ओर व्यक्तिवाद को भी काफी बल मिला है,

और अब भी मिल रहा है। उदाहरणार्थ, नाना फडनवीस ने अवसर के अनुकूल ऐसी भी रायें दी हैं जो चली आ रही परम्पराओ के प्रतिकूल थी। पेशवाओं ने उनकी राय को माना, ब्राह्मणो ने उनका अनुसरण किया और कहीं किसी ने कोई हो-हल्ला नही मचाया। नाना का कहना था कि जब कोई कठिनाई आएगी तो रस्ता निकल जाएगा,[139] पर कठिनाइयों के आने के बाद भी उसकी कोई ज रत नही पड़ी। बिरादरी की शक्ति अभी क्षीण नही हुई थी, और इसलिए कोई रास्ता निकालने की आवश्यकता होती भी तो वैसे ही रास्ते निकाले जाते जो ऊपर के उदाहरणों में दिये गए हैं। सभी की मौन सहमति से पुराने नियमो को धीरे-धीरे शिथिल कर दिया जाता और रस्म की कसौटी पर सभी कुछ धीरे-धीरे सही मान लिया जाता। मेरा विश्वास है कि पेशवाओं के अन्तर्गत यही प्रक्रिया चलती रहती, और कुछ और संकुचित अर्थ में मराठों के शासन में भी यही होता। किन्तु हमारी प्रगति का जो वर्तमान स्तर है, उसमे इस प्रकार की प्रक्रिया सम्भव न होती, और होती भी तो अत्यन्त धीमी तथा कठिन होती, और इसके बावजूद कि कई अन्य क्षेत्रो मे ब्रिटिश शासन का प्रभाव काफी शक्तिशाली है। स्वर्गीय श्री कृष्ण शास्त्री चिपलूनकर को, जो नए विचारो के पथ-प्रदर्शक थे, तीस वर्ष पहले उठाकर कोयलो के ढेर पर इसलिए फेंक दिय गया था कि उन्होंने अपने एक यूरोपीय मित्र के साथ एक ही मेज पर फल खाया था।[140] उसके बाद उसी तरह की एक घटना और हुई और उसका परिणाम भी वैसा ही हुआ। कहा जाता है कि पहली घटना के कारण प्रगति में बाधा उत्पन्न हुई, और यह सच हो या न हो, बाधा उत्पन्न हुई हो या न हुई हो, यह एक बात तो स्पष्ट है कि जो भी प्रगति हुई वह बहुत ही धीमी थी। दूसरी ओर ऐसे लोगों का अस्तित्व भी अवश्य था जो पेशवाओ के शासन में होने वाली गतिविधियो से या तो बेखबर थे या वे उन्हें मान्य नही थी।

इन विचारो को अब और आगे बढ़ाना ठीक नही। इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य था बिखरी हुई उपलब्ध सामग्री के आधार पर अतीत की विशेषताओं को एक जगह रखना। और अब जबकि यह सम्भव हो गया है तब हमें चाहिए कि उन विशेषताओ की जानकारी के लाभ को हम आगे भी विचार-विमर्श के लिए संचित रखें। हां, अन्त में स्पष्टीकरण के रूप में एक बात अवश्य कहना चाहूंगा। यहां एकत्र घटनाओ सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध अभिलेखो से ली गई है और जो अभिलेख तत्कालीन हैं, और जो तत्कालीन नहीं हैं, उनमें कोई भेदभाव नही किया गया है। हो सकता है कि इनमें बहुत सारे अभिलेख तत्कालीन न हो। पर इस निबन्ध का जो विषय है, उसके सन्दर्भ में इस तथ्य को ध्यान में रखकर लिखना आवश्यक नही समझा गया। जो भी हो, ये अभिलेख उस सिद्धान्त की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं जिस सिद्धान्त का इस्तेमाल गेटे ने प्राचीन

यूनानी साहित्य के सन्दर्भ में किया था—अर्थात् "पर्दा ही चित्र है।" और जिन दस्तावेजों से यह सामग्री ली गई है उनमें से यदि सभी नहीं तो कम से कम अधिकतर प्राचीन शासन के समय की हैं, और इसलिए यहां उनकी प्रामाणिकता के प्रश्न को उठाना आवश्यक नहीं समझा गया है, क्योंकि यहा वह प्रश्न मूल विषय की परिधि के बाहर है।

पाद टिप्पणियां

1. देखिए जर्नल बाम्बे ब्राच, रायल एशियाटिक सोसायटी, जिल्द IX, पृष्ठ VI, IX, XXXIII तथा जिल्द X, पृष्ठ 210

2. देखिए उसके इतिहास की पाद टिप्पणिया ।

3 देखिए विविधज्ञानविस्तार, जिल्द VIII, पृष्ठ 213, जिल्द IX, पृष्ठ 247 । पूना कालेज के एक छात्र द्वारा ग्राट डफ के 'मराठो का इतिहास' की समीक्षा, पृष्ठ 9 (अब राव बहादुर नीलकण्ठ जनार्दन कीर्तने) ।

मुझसे कहा गया है कि सतारा में, जहा ग्राट डफ काम करते थे, इस प्रकार की धारणा नही थी ।

4. टिप्पणी (2) में जिस समीक्षा का उल्लेख है, उसका आधार कोई बहुत *प्रामाणिक नही । ऐसी स्थिति में उन पर बहुत विश्वास करना ठीक नही* होगा ।कहा जाता है कि पाण्डुलिपि को नष्ट करने में किसी 'दक्षिणी कमिश्नर' का भी हाथ था । समीक्षा के दूसरे संस्करण में पृष्ठ 28 पर यह सूचना, जिस पर यह कहानी आधारित है, देने वाले का नाम प्रकाशित है । पर इससे स्थिति में कोई विशेष सुधार नही आता । अपनी कृति के दूसरे संस्करण (95-7) में *कीर्तने ने स्वयं बड़े ही अस्पष्ट शब्दो में कहानी पर अविश्वास व्यक्त किया* है और इसका कारण भी बताया है । यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रो० डाउसन रचित 'सर एच० इलियट का भारत का इतिहास' (जिल्द VII, पृष्ठ VI और 210) में ग्राट डफ रचित एक दूसरी पाण्डुलिपि —जो एक मौलिक मुसलमान रचना का अनुवाद थी—का उल्लेख है, पर अब वह भी उपलब्ध *नही ।*

5. प्रो० डाउसन के 'सर एच० इलियट का भारत का इतिहास', जिल्द I, पृष्ठ XIX-XXI, *में हिन्दू लेखकों द्वारा रचित इतिवृत्तियों की बड़ी* कटु आलोचना की गई है, जो शायद निराधार नही । सर एच० इलियट द्वारा उनका परीक्षण किया गया है ।

6. ये मूल स्रोत हैं। जैसा कि बाद में देखा जाएगा, कुछ अन्य स्रोतों का प्रयोग भी किया गया है। बखर का एक अनुवाद प्रो० फारेस्ट के बाम्बे स्टेट पेपर्स की जिल्द I में संचित है। लगता है कि वह अनुवाद ठीक नहीं है, साथ ही संक्षिप्त भी कर दिया गया है। मूल में शायद ही शिवाजी के हृदय को (देखिए पृष्ठ 15) एक रात्रि से भी अधिक अंधकारपूर्ण कहा गया हो—रायगढ़ के मराठा बखर में शिवाजी के बारे में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग सम्भव नहीं जान पड़ता।

7. देखिए बर्नियर का 'ट्रैवेल्स' (नया सस्करण, कांस्टेबल ओरिएंटल मिसलेनी पृष्ठ 220–21) तथा ओविंगटन रचित 'वायेज टू सूरत' (पृष्ठ 189-228)। इन रचनाओं से उन दिनों की बड़ी-बड़ी सेनाओं के रख-रखाव तथा व्यय आदि के बारे में जानकारी मिलती है।

8. ग्रांट डफ, जिल्द I, पृष्ठ 223

9. उसके बारे में ग्रांट डफ, जिल्द II, पृष्ठ 208 पर देखिए और फारेस्ट के 'बाम्बे सेलेक्शन (जिल्द I, पृष्ठ 250) तथा ट्रैवेल्स' (पृष्ठ 74, 146) से तुलना कीजिए।

10. ग्रांट डफ, जिल्द I, पृष्ठ 235। चित्रगुप्त के 'शिवाजी की जीवनी' (पृष्ठ 103) से तुलना कीजिए। सभासद, पृष्ठ 69, विविधज्ञानविस्तार, जिल्द XIII, पृष्ठ 238 और फारेस्ट्स सेलेक्शन्स, पृष्ठ 14, 80 भी देखिए।

11. पण्डितराव के कार्य के बारे में विद्वानों द्वारा दिए गए अनेक विवरणों में असमानता है। मराठा साम्राज्य बखर (पृष्ठ 28) के अनुसार [illegible] शिवाजी द्वारा सूरत के लूटे जाने के बाद स्थापित हुआ। [illegible] अधिकारी की नियुक्ति जो ब्राह्मणों को दिए गए अनुदानों [illegible] सके, ताकि राज्य में न्याय तथा सद्गुणों की सुरक्षा हो सके। [illegible] चिटनिस का इसको समर्थन मिला था और उनके अनुसार [illegible] प्रशासनिक प्रबन्ध लगभग उसी समय किए गए थे। [illegible] (पृष्ठ 23) के अनुसार रघुनाथ पण्डित को [illegible]। यह तब हुआ जब उन्हें मिर्जा राजा जयसिंह से [illegible] उपयुक्त समझा गया। एम० आर० [illegible] चित्रगुप्त तथा गुप्ते के अनुसार [illegible] हुई। (देखिए चित्रगुप्त जीवनी, पृष्ठ [illegible]

पण्डितराव के कामकाज के बारे में आगे भी देखिए (चिटनिस कृत राजनीति, पृष्ठ 10 तथा 30) और उससे मैलकाम रचित 'सेण्ट्रल इण्डिया', जिल्द II, पृष्ठ 429 की तुलना कीजिए। फोरबेस का 'ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द I; पृष्ठ 214 भी देखिए। स्वामी की अन्त्येष्टि के सिलसिले में धावादासी बखर ने भी पण्डितराव का उल्लेख किया है।

12. 'काव्यातिहास संग्रह' में संकलित लेटर्स, मेमोरेण्डा आदि (पृष्ठ 357)।

13. देखिए वेस्ट तथा बूलर का 'हिन्दू ला', पृष्ठ 13

14. मार्डलिक कृत 'हिन्दू ला' देखिए (भूमिका, पृष्ठ XXXII।

15. विविधज्ञानविस्तार, जिल्द XIII, पृष्ठ 201, 238 सभासद कृत 'लाइफ आफ शिवाजी' भी देखिए। फारेस्ट के 'बाम्बे सेलेक्शन्स' के पृष्ठ 725 पर पिछली सदी के एक मुसलमान लेखक की एक रचना का अनुवाद है, जिसका कहना है कि शिवाजी ने अपनी योजना मुसलमानो से सीखी। किन्तु उसने अपनी इस धारणा का कोई सबूत नही दिया है।

16. विविधज्ञानविस्तार, जिल्द V, पृष्ठ 194

17. वही, पृष्ठ 91 तथा के० आई०-संग्रह के पत्रादि (पृष्ठ 9)।

18. डाउसन के इलियट का टिप्पणीकार इस शब्द से हैरान जान पड़ता है। पर यह शब्द मात्र 'कव' अथवा 'कवि' है जिसके सम्मानसूचक 'जी' लगा हुआ है। कलुश औरंगजेब का एक दूत था—यह भोंसले बखर (पृष्ठ 14), चिटनिस कृत 'लाइफ आफ संभाजी' (पृष्ठ 7) तथा श्री शिव काव्य के सर्ग VI, छन्द 21 से स्पष्ट है। फोरबेस का 'ओरिएंटल मेमायर्स', जिल्द I, पृष्ठ 462 भी देखिए। डाउसन के इलियट में दिया गया मुसलमानी दृष्टिकोण इस सुझाव का समर्थन नही करता। उसके अनुसार 'कब्जी' ब्राह्मण काशीपंत थे जिनकी देखरेख में संभाजी को शिवाजी ने दिल्ली से भागते समय छोड़ा था।

19. मराठी साम्राज्याची बखर, पृष्ठ 59

20. प्रभुओं के अनुसार उनके नाम की वर्तनी का यही सही रूप है। ईर्ष्या के कारण प्रभु को 'परभू' कर दिया गया था। ऐंग्लो इण्डियन इसे 'परवू' कहते थे। देखि कायस्थ प्रभुंची बखर, पृष्ठ 6

21. देखिए के० पी० बखर (के० पी० आई० एस०) पृष्ठ 10-12

22. देखिए चित्रगुप्त कृत शिवाजी, पृष्ठ 123

23. देखिए के० पी० बखर (के० पी० आई० एस०), पृष्ठ 12-17

24. इससे लगता है कि इन दो जातियों के प्रश्नों पर मुसलमान राजाओं ने भी गौर किया था।

25. देखिए के० पी० बखर (के० पी० आई० एस०), पृष्ठ 12-13, जहां पत्र विस्तार से दिया गया है।

26. ग्राट डफ, जिल्द II, पृष्ठ 17, 32

27. देखिए ग्राट डफ, जिल्द II, पृष्ठ 35, रघुनाथ यादव के पानीपत बखर के अनुसार (पृष्ठ 7) मृत्यु-शैया पर पड़े शाहू ने अपना पूरा राज्य बालाजी बाजीराव को दे दिया था।

28. देखिए लेटर्स, मेमोरेण्डा (के० आई० संग्रह), पृष्ठ 70, बहुत दिनों बाद श्रीपत शेषाद्रि को लेकर भी उसी तरह का प्रश्न उठा था, जो महामना नारायण शषाद्रि के भ्राता थे। इस मामले में प्रो० बाल गंगाधर शास्त्री ने भी काफी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिससे उस समय की रूढ़िवादिता को काफी गहरा धक्का लगा।

29. लेटर्स, मेमोरेण्डा आदि (के० एल० संग्रह), पृष्ठ 523, मेरी सूचना का एकमात्र स्रोत उसमें दिया गया संक्षिप्त विवरण है। इस तर्क को बड़ी निर्ममता के साथ मृत व्यक्तियों के ऊपर भी लागू किया गया है। ऐसा कायस्थ प्रभुंच्या इतिहासांची साधने (ग्रामान्य), पृष्ठ 9 पर अंकित है। पृष्ठ 9 पर 'लेटर्स और मेमोरेण्डा' भी देखिए। वहां दिया गया अवतरण अपेक्षाकृत अस्पष्ट है।

30. लगता है कि मुख्यत: सदाशिवराव ही पेशवाओं का काम-काज देखते थे। बालाजी कोई विशेष ध्यान नहीं देते थे। देखिए फारेस्ट का 'बाम्बे सेलेक्शन्स', जिल्द I, पृष्ठ 121, 134 तथा 'एशियाटिक रिसर्चेज', जिल्द III, पृष्ठ 91 से तुलना कीजिए।

31. देखिए प्रो० एच० एच० विलसन कृत 'रिलिजस सेक्ट्स आफ द हिन्दूज' जिल्द I, पृष्ठ 202-3

32 देखिए पेशवा वखर, पृष्ठ 68–9

33. देखिए कायस्थ प्रभुंची वखर, पृष्ठ 13 तथा कायस्थ प्रभुच्या इतिहासाची पृष्ठ 5, राज्य द्वारा लोगों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

34. पेशवा वखर, पृष्ठ 68-9

35. देखिए लेटर्स, मेमोरेण्डा (के० आई० संग्रह), पृष्ठ 522, प्रतीत होगा कि त्रिम्बकेश्वर मन्दिर का प्रतिष्ठान 1806 (शक स० 1728) में बाजीराव द्वितीय द्वारा हुआ था। ब्राह्मणों द्वारा उठाई गई कठिनाइयों के बावजूद विलम्ब आवश्यकता से काफी अधिक हो गया था।

36. पेशवा वखर, पृष्ठ 68, डाउसन के इलियट, जिल्द VII, पृष्ठ 404, 415, 446, 456 तथा मैलकाम के सेन्ट्रल इण्डिया, जिल्द I, पृष्ठ 56 से तुलना कीजिए।

37. पेशवा वखर, पृष्ठ 40, कितना अजीब है कि यह विचार एक आस्थावान हिन्दू के मन में उठा। पुरानी परम्पराओं में ढील सम्बन्धी और बातें भी इस निबन्ध में कही गई है। ग्रांट डफ, जिल्द I, पृष्ठ 599 से तुलना कीजिए। ग्रांट डफ कह सकता था कि बाजीराव धर्मान्धता से मुक्त थे।

38. लेटर्स, मेमोरेण्डा, पृष्ठ 539 सारी की सारी कहानी बड़ी अजीब है, विवरण में परस्पर विरोधी बातें भी है। श्री शिवकाव्य, सर्ग X, छन्द 58 देखिए। पृष्ठ 74–77 मराठा साम्राज्य वखर भी देखिए। ये भी देखिए—काशीराज भोंसले वखर, पृष्ठ 40, पेशवा वखर, पृष्ठ 37–40, पृष्ठ 49 भी देखिए; पेशवा शकावली, पृष्ठ 6; रघुनाथ यादव पानीपत वखर, पृष्ठ 48; चिटनिस कृत शाहू, पृष्ठ 76, फारेस्ट्स सेलेक्शन्स, पृष्ठ 658 मस्तानी के बेटे शमशेर बहादुर, तथा उसके साथ किए गए व्यवहार, और पेशवा परिवार से सम्बद्ध पद के लिए देखिए फारेस्ट, पृष्ठ 102, और डाउसन, कृत इलियट, जिल्द VIII, पृष्ठ 283; पेशवा वखर, पृष्ठ 150 से तुलना कीजिए।

39. इसके बारे में तुलना कीजिए मैलकाम सेन्ट्रल इण्डिया, जिल्द II, पृष्ठ 158 से।

40. देखिए लेटर्स, मेमोरेण्डा (के० आई० संग्रह), पृष्ठ 121-22 मनु, अध्याय III, छन्द 51, तथा अध्याय IX, छन्द 98 वह कन्या के विक्रय को वर्जित तथा उसकी भर्त्सना करता है। मराठी में इसे अभी भी 'कन्याविक्रय' की संज्ञा दी गई है। मनु, अध्याय X, छन्द 62 भी देखिए। पेशवा द्वारा ग्रहण की गई आजादी को मनुस्मृति का समर्थन नहीं। आजकल की भाषा में पेशवा की आज्ञा को 'वैधानिक कार्यवाही' कहेंगे।

41. कायस्थ प्रभुची वखर, पृष्ठ 12 पर पेशवा का एक पत्र है, और एक पत्र राजा का भी है। पेशवा ने सिफारिश भेजी है और राजा ने पण्डितराव के माध्यम से अपेक्षित आज्ञापत्र प्रेषित किया है।

42. देखिए सभासद की जीवनी, पृष्ठ 27-28, विविध ज्ञान विस्तार, जिल्द IX पृष्ठ 50-53; मराठा साम्राज्य वखर, पृष्ठ 76; भोंसले वखर, पृष्ठ 76 भोंसले लेटर्स मेमोरेण्डा आदि (के० आई० संग्रह), पृष्ठ 147; निगुडकर कृत पी० वी० पटवर्धन की जीवनी, पृष्ठ 87; मैलकाम कृत सेण्ट्रल इण्डिया जिल्द I, पृष्ठ 69

43. देखिए वेस्ट तथा बुहलर का डाइजेस्ट आफ हिन्दू ला, पृष्ठ 921, विद्वान लेखकों ने बाम्बे प्रेसीडेन्सी के अनेक ब्रिटिश कोर्टों में शास्त्रियों की रायों के अनेक आंकड़े देखे हैं। देश के दूसरे हिस्सों में भी, तथा अन्य अवसरों पर भी शास्त्रियों ने इसी प्रकार की राय व्यक्त की है। मूर के 'इण्डियन एपील केसेज' जिल्द VII, पृष्ठ 35–37, 46-49 में प्रीवी कौंसिल के अनेक निर्णयों में उनका उल्लेख है। स्टील को यह कहते हुए उद्धृत किया गया है कि भोंसलों तथा कुछ अन्य मराठा परिवारों के क्षत्रिय होने के दावों को नहीं माना गया है। इस वर्जना का आधार भागवत को नहीं, बल्कि इस धारणा को माना गया है कि परशुराम ने क्षत्रियों का नाश कर दिया था। किन्तु यह तर्क अतिशयोक्तिपूर्ण है। यदि ऐसा न होता तो अयोध्या के राम की जाति को हम क्यों मानते? कालिदास के रघुवंश में राम के अनेक उत्तराधिकारियों का भी उल्लेख है। मैलकाम के सेन्ट्रल इन्डिया, जिल्द I, पृष्ठ 43 भी देखिए।

44. मेरे विचार से इस पाठ की एक व्याख्या मगध पर, न कि पूरे भारतखंड पर लागू होती है। बनारस के पण्डितों द्वारा दी गई दूसरी व्याख्या के लिए देखिए प्रभुंची वखर, पृष्ठ 17

45. देखिए 'दासबोध', XIII, 61 हेमाद्रि ने भी जाधव राजा महादेव को सोमवंश का बताया है और कहा है कि उसने यज्ञ किया है। विविधज्ञानविस्तार, जिल्द IX, पृष्ठ 35 पर कहा गया है कि मराठा राजपूत ही हैं, केवल उनका नाम बदल गया है। बाम्बे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसायटी जर्नल, जिल्द IX, पृष्ठ CXIIV देखिए। इन्हें भी देखिए—भोंसले बखर, पृष्ठ 3-5; एम० आर० *चिटनिस की राजनीति*, पृष्ठ 7; *फारेस्ट्स सेलेक्शन्स*, पृष्ठ 726; डाउसन का इलियट, जिल्द VII, पृष्ठ 254, जिल्द VIII, पृष्ठ 258

46. इस विषय सम्बन्धी सारे अवतरण अजीब से हैं। उनके मूल स्रोत का परीक्षण आवश्यक है। देखिए आर० यादव कृत पानीपत बखर, पृष्ठ 19-20; चिटनिस *का राजाराम* I, पृष्ठ 71; *भाऊ साहब बखर*, पृष्ठ 56, चित्र गुप्त का शिवाजी पृष्ठ 137; चिटनिस का राजाराम II, पृष्ठ 55; श्री शिवकाव्य सर्ग I, पृष्ठ 119; लेटर्स एण्ड मेमोरेण्डा, पृष्ठ 37 से तुलना कीजिए। फारबेस का ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द III, पृष्ठ 149 भी देखिए (इसमें कहा गया है कि अकबर एक अवतार था) और डाउसन का इलियट, जिल्द V, पृष्ठ 567–70, डाउसन का इलियट (जिल्द VII, पृष्ठ 284) मे कहा गया है कि दिल्ली में ब्राह्मणो की एक जाति थी जो औरंगजेब के 'दर्शन' कर लेने क बाद ही भोजन करते थे। उन्हें 'दर्शनिस' कहते थे।

47. देखिए चिटनिस की राजनीति, पृष्ठ 123 ; *चित्रगुप्त कृत शिवाजी*, पृष्ठ 5, 16, 32, 41, 101; खड़दा बखर, पृष्ठ 22 कायस्थ प्रभुंची में पृष्ठ 5 पर कहा गया है कि जब नारायणराव पेशवा के जीवन काल में ब्राह्मणों और प्रभुओं के बीच विवाद चल रहा था तब ब्राह्मणों के अग्रगामियों न कहा : 'शास्त्र में जो है उससे क्या मतलब ? शास्त्रों को देखता ही कौन है ? पेशवा ही राजा है, वे जैसा कहें वैसा ही करना आवश्यक है।' औरंगजेब की उपस्थिति में मुसलमान 'डाक्टर्स आफ ला' भी इसी प्रकार का आत्मसन्तोष रखते हैं। यह टैवर्नियर के जिल्द I, पृष्ठ 356 पर उल्लिखित है। पृष्ठ 288 पर बर्नियर भी देखें।

18. पृष्ठ 27 पर सभासद की जीवनी दखें। ये भी दखिए—चित्रगुप्त, पृष्ठ 40; विविध ज्ञान विस्तार, जिल्द IX, पृष्ठ 36; फायर्स ट्रैवेल्स, पृष्ठ 68, तथा बर्नियर, पृष्ठ 188–89 इनमें इन युक्तियों की पुष्टि मिल जाती है। जिल्द VII, पृष्ठ 260 पर डाउसन भी देखें। मुसलमान स्रोत से आने के कारण उसका

विशेष महत्व है। यह सहिष्णुता कभी-कभी हद से गुजर जाती थी। देखिए मराठी साम्राज्य बखर, पृष्ठ 14 (इसमें पृष्ठ 48 पर एक अजीब कथा दी गई है)। चिटनिस कृत संभाजी, पृष्ठ 5 देखिए, देखिए होल्कर की 'कैफ़ियत पृष्ठ 108 पर; फारेस्ट्स सेलेक्शन्स, पृष्ठ 1, फारबेस ओरिएण्टल मेमायर्स जिल्द II, पृष्ठ 118, 225 इससे मुसलमानों की उदारता की तुलना कीजिए। महादजी शिंदे ने दिल्ली के बादशाह से कहकर गो-हत्या पर पाबन्दी लगवा दी थी। देखिए ग्राट डफ, जिल्द III, पृष्ठ 76, मैलकाम, जिल्द I, पृष्ठ 164, 194, बर्नियर, पृष्ठ 306, 326 कहा जाता है कि पुर्तगाली बडे असहनशील थे। देखिए शष्टि बखर, पृष्ठ 1; डाउसन का इलियट, जिल्द VII, पृष्ठ 211, 346 और ओविंगटन्स वायज टू सूरत, पृष्ठ 206

49. इस सम्बन्ध मे स्काट के डकन, जिल्द I, पृष्ठ 203 देखिए। पृष्ठ 124 पर फायर का ट्रैवेल्स भी देखिए।

50. पृष्ठ 8–9 इन विवादों के बाद के स्तर, नाना फड़नवीस की शक्ति के दिनों मे प्रभुओ ने कहा था —हमारी जाति के सभी लोग चाहते है कि पण्डितों की एक सभा बुलाई जाए जो हमारे जातीय स्तर का निर्णय करे। उसके बाद राज्य की ओर से एक आज्ञापत्र जारी हो और उसी के अनुसार संस्कारो का पालन हमारा कर्तव्य हो। हां, राज्य अपनी आज्ञा काफी विचार-विमर्श के बाद ही दे। कायस्थ प्रभुच्या इतिहासांची साधने (प्रामान्या), पृष्ठ 17; के० पी० बखर पृष्ठ 12

51. इस सम्बन्ध में देखिए वेस्ट तथा बुहलर कृत 'डाइजेस्ट आफ हिन्दू ला, पृष्ठ 920; पर साथ ही पृष्ठ 56 पर माउलिक का 'हिन्दू ला' भी देखिए।

52. देखिए मराठी साम्राज्य बखर, पृष्ठ 4–7 और 'विविध ज्ञान विस्तार', जिल्द IX, पृष्ठ 37 तथा ग्रांट डफ, जिल्द I से तुलना कीजिए।

53. एक अंग्रेज के एक मुसलमान से बदला लेने की एक हास्यास्पद कहानी मे सूअर के गोश्त को एक महत्वपूर्ण भूमिका दी गई है। देखिए टैवर्नियर का ट्रैवल्स, जिल्द I, पृष्ठ 11

54. देखिए घड़दा बखर, पृष्ठ 5–6

55. देखिए ग्रांट डफ, जिल्द II, पृष्ठ 237 फारबेस के 'ओरिएण्टल मेमायर्स जिल्द I, पृष्ठ 474 से तुलना कीजिए। मैलकाम का सेन्ट्रल इण्डिया, जिल्द I,

पृष्ठ 536, जिल्द II, पृष्ठ 290, 426 भी देखिए । देखिए स्टीफेन का इक्वी एण्ड नन्दकुमार, जिल्द I, पृष्ठ 247, जिल्द II, पृष्ठ 78। ग्रांट डफ के इस कथन के सम्बन्ध में कि ब्राह्मणों तथा महिलाओ को मृत्यु दण्ड नही दिया जाता था, एम० आर० चिटनिस कृत 'लाइफ आफ शाहू द यंगर', पृष्ठ 72-80 देखिए । पेशवा बखर, पृष्ठ 132; फारेस्ट, पृष्ठ 18; चित्रगुप्त कृत शिवाजी, पृष्ठ 5; चिटनिस कृत शाहू I, पृष्ठ 25, तथा 5; तथा संभाजी पृष्ठ 12, 14 देखिए ।

56. पुरानी परम्परा के अनुसार, 'मुद्राराक्षस' पंचम अंक से तुलना कीजिए । विल्सन कृत 'हिन्दू थियेटर', जिल्द I, पृष्ठ 201 भी देखिए ।

57. स्काट कृत डकन, देखिए जिल्द I, पृष्ठ 375

58 टिप्पणी 35 देखिए । विविध अपराधो के लिए इसी प्रकार के दण्ड का विधान था । कुख्यात घासीराम कोतलाव को भी इसी तरह घुमाया गया था (देखिए पेशवा बखर, पृष्ठ 157), गोकि वह गधे पर नही ऊट पर बैठा था । फारबेस के ओरियण्टल मेमायर्स, जिल्द II, पृष्ठ 135 मे इसी पूरी घटना का सविस्तार वर्णन है । पृष्ठ 97 पर फ्रेयर देखिए । नारायण राव पेशवा के कुछ हत्यारो को हाथी के पाव से बाध कर मारा गया था (देखिए भाऊ साहब कृत कैफियत,) पृष्ठ 3; पृष्ठ 4 पर फारेस्ट के 'सेलेक्शन' से तुलना कीजिए । देखिए डाउसन का इलियट, जिल्द VII, पृष्ठ 359–63, बर्नियर के ट्रवेल्स, पृष्ठ 177, स्काट के डकन, जिल्द I, पृष्ठ 134, 285, 393, हैमिल्टन के ईस्ट इडीज, जिल्द I, पृष्ठ 178 जिसमें कहा गया है कि इस प्रकार की मौत अत्यन्त अपमानजनक है । दूसरो का सिर काट लिया गया था, या गोली मार दी गई थी । कुछ के शरीर से मशाल बाध दिया गया था, फिर उन्हें प्रज्वलित । कर मार डाला गया था । उनकी उंगलियो में भी सुइया चुभो दी गई थी । देखिए पेशवा बखर, पृष्ठ 132 सदाशिवराव की मौत सम्बन्धी विविधि कथाओं के बारे मे पेशवा बखर, पृष्ठ 134 तथा परशुराम भाऊ पटवर्धन, पृष्ठ 40 देखिए । ग्राट डफ, जिल्द II, पृष्ठ 331-5 भी देखिए । पेशवा शकावली, पृष्ठ 30 एवं डाउसन के इलियट, जिल्द VIII, पृष्ठ 294 भी देखिए । मराठा साम्राज्य बखर, पृष्ठ 100, चिटनिस का राजाराम पृष्ठ 45 भी देखिए ।

59. चित्रगुप्त कृत 'लाइफ', पृष्ठ 108, 116, 168 देखिए, तुलना कीजिए मराठी साम्राज्य बखर, पृष्ठ 47 से ।

60. देखिए फारेस्ट का सेलेक्शन, पृष्ठ 22

61. पृष्ठ 98

62. देखिए विविधज्ञानविस्तार, जिल्द X, पृष्ठ 44, 116-9

63. देखिए चिटनिस कृत शाहू, पृष्ठ 9; देखिए विविधज्ञानविस्तार, जिल्द IX पृष्ठ 32, गुप्ते का भोसले बखर, पृष्ठ 4; लेटर्स, मेमोरेण्डा आदि (के० आई० संग्रह), पृष्ठ 362, एम० आर० चिटनिस कृत 'लाइफ आफ शाहू द यंगर', पृष्ठ 101-2; स्मरण रखना होगा कि उदयपुर परिवार राजपूतों में सबसे पुराना था (देखिए ग्राट डफ, जिल्द I, पृष्ठ 27)। यही एक परिवार था जिसने मुगलो के यहा अपनी कन्याओ का विवाह नही किया। (देखिए कोवेल कृत 'एलफिस्टन्स इंडिया', पृष्ठ 480-506-7)। 'विविधज्ञानविस्तार' जिल्द IX, पृष्ठ 20 से तुलना कीजिए। बर्नियर कृत ट्रैवेल्स, पृष्ठ 126, डाउसन का इलियट, जिल्द VII, पृष्ठ 195-6 भी देखिए।

64. विविधज्ञानविस्तार, जिल्द VIII, पृष्ठ 202, चिटनिस परिवार (के० पी० आई० एस०) का इतिहास देखिए, पृष्ठ 608, कायस्थ प्रभुची बखर पृष्ठ 10-11 पूना के ज्ञानप्रकाश समाचारपत्र के एक लेखक के अनुसार गांगाभट्ट ने इस तर्क का इस्तेमाल जो हो रहा था उसके प्रति लोगो को समझौते का दृष्टिकोण रखने को प्रेरित कर रहे थे। मामले के इस रूपान्तर के समर्थन में कोई प्रमाण नही।

65. देखिए विविधज्ञानविस्तार, जिल्द XIII, पृष्ठ 203

66. विविधज्ञानविस्तार, जिल्द XIII, पृष्ठ 248 पर एम० आर० चिटनिस द्वारा राजाराम का उल्लेख है। (संभाजी का यज्ञोपवीत संस्कार शिवाजी से काफी कम आयु में हुआ था। यह संस्कार उनके उत्तराधिकार सम्बन्धी संस्कारों के सन्दर्भ में हुआ था)।

67. चिटनिस कृत राजाराम की जीवनी II, पृष्ठ 2, शाहू की जीवनी, पृष्ठ 16

68. सभासद की जीवनी, पृष्ठ 28; 38; विविधज्ञानविस्तार, जिल्द IX, पृष्ठ 30; जिल्द X, पृष्ठ 44, 119; जिल्द XIII, पृष्ठ 202 जहां शिवाजी द्वारा अपने परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा कच्छ और नेपाल पर शासन करने का दावा है।

69. देखिए चिटनिस कृत शाहू पृष्ठ 9, 61, राजारम II, पृष्ठ 2; ओरिएण्टल मेमायर्स में कहा गया है कि मराठों को हिन्दुओं में निम्न वर्ग के साथ रखा गया है। देखिए जिल्द I, पृष्ठ 459, जिल्द II, पृष्ठ 61; डाउसन का इलियट, जिल्द VIII, पृष्ठ 209 से तुलना कीजिए।

70. मराठी साम्राज्य बखर, पृष्ठ 116, और इससे पूर्व दिए गए उद्धरण; स्काट के डकन, जिल्द I, पृष्ठ 32, जिल्द II, पृष्ठ 4; फारबेस के सेलेक्शन, पृष्ठ 725 से तुलना कीजिए।

71. देखिए भाऊ साहब बखर, पृष्ठ 68

72. चित्रगुप्त (पृष्ठ 95) के अनुसार शिवाजी से मिलने गागाभट्ट स्वय आए थे। कुछ दूसरे विद्वानो का मत भिन्न है। कहा जाता है कि गागाभट्ट को उपहार-स्वरूप एक लाख रुपया दिया गया। देखिए 'चिटनिस फैमिली', पृष्ठ 6 (के० पी० आई० एस०)।

73. स्काट कृत डकन, जिल्द I, पृष्ठ 81, 93, 210, 288, 315, 370-6 पृष्ठ 351 पर दिए गए अवतरण पर ध्यान दीजिए। ओविंगटन के वायज टू सूरत से (पृष्ठ 315) तुलना कीजिए।

74. पृष्ठ 30

75. शिवाजी अपने 'मुंज' अथवा जनेऊ के लिए उत्सुक थे। देखिए चित्रगुप्त कृत जीवनी, पृष्ठ 84. 'विविधज्ञानविस्तार' जिल्द XIII, पृष्ठ 202 में कहा गया है कि उन्होंने उस सम्बन्ध में कई लोगों से राय-बात की थी. (देखिए मराठी साम्राज्य बखर, पृष्ठ 47 और बाबा साहब गुप्ता का एकाउण्ट (के० पी० आई० एस०), पृष्ठ 8 यह भी कहा गया है कि गायत्री मंत्र (ओं तत् सवितुर आदि) सीखने के बाद शिवाजी क्षत्रियों की बजाए ब्राह्मणों की तरह रहने लगे थे। (श्री शिवकाव्य, सर्ग I, छन्द 50 से तुलना कीजिए) पर बाद में उनके अधिकारियों ने उनसे यह करने को मना किया, उसके बाद उन्होंने कहा कि ब्राह्मणों को छोटी नौकरी न दी जाए, और बहुत से तबादले भी किए। देखिए ग्राट डफ, जिल्द I, पृष्ठ 226; फारेस्ट का 'सेलेक्शन', जिल्द I, पृष्ठ 251.

76. तुलना कीजिए डाउसन के इलियट, जिल्द VII, पृष्ठ 185 से; वही, जिल्द I, पृष्ठ 9 भी देखिए, विविधज्ञानविस्तार, जिल्द X, पृष्ठ 202

77. फारवेस (ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द II, पृष्ठ 49) के अनुसार एक ब्राह्मण ऐसे ताम्रपात्र में खाना नही खाता था जिसमें लोहा लगा हो, बल्कि केले के पत्ते का इस्तेमाल करता था।

78. पृष्ठ 75, दूसरे विद्वान किसी भी प्रायश्चित के बारे मे कुछ नही कहते। साथ-साथ खाने की परीक्षा मराठा इतिहास में बहुधा प्रयुक्त हुई है। देखिए चिटनिस कृत राजाराम II, पृष्ठ 2; एशियाटिक रिसर्चेज, जिल्द III, पृष्ठ 137; ग्राट डफ, जिल्द II, पृष्ठ 39; मैलकाम का सेंट्रल इंडिया, जिल्द II, पृष्ठ 131, 149; चित्रगुप्त 'लाइफ', पृष्ठ 62, गायकवाड़ का कैफियत, पृष्ठ 6; मराठी साम्राज्य बखर, पृष्ठ 32, विविधज्ञानविस्तार, जिल्द IX, पृष्ठ 31-2, 70; जिल्द X, पृष्ठ 202; गुप्ते का भोसले बखर, पृष्ठ 9 20, 31। होल्कर कृत कैफियत में साथ खाने की दो रोचक घटनाएं दी गई हैं (पृष्ठ 4) ; गुप्ते का भोसले बखर, पृष्ठ 31. पूना के ज्ञानप्रकाश के एक लेखक का कहना है कि जब राजाराम तथा उसके भृत्य देश मे घूम रहे थे तब उन्हे एक बार औरंगजेब के आदमियों का सामना करना पड़ा। उनके मन में शंका न पैदा हो इसलिए मराठा, प्रभु तथा ब्राह्मण सभी एक साथ रेशमी वस्त्र धारण कर एक पंक्ति में भोजन करने बैठे। इसका उल्लेख मैंने किसी भी बखर में नही देखा है।

79. देखिए चित्रगुप्त कृत लाइफ, पृष्ठ 77; विविधज्ञानविस्तार, जिल्द X, पृष्ठ 185, स्काट कृत डकन, जिल्द II, पृष्ठ 16

80. पेशवा बखर, पृष्ठ 105, 139, 143 मे लिखा है कि ब्राह्मण पायजामे का इस्तेमाल बिना किसी झिझक के करते थे, अपने विवाह के अवसर पर माधवराव ने कदाचित पायजामे का ही प्रयोग किया था। देखिए चित्रगुप्त कृत शिवाजी, पृष्ठ 5 तथा फारबेस कृत ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द II, पृष्ठ 12, भोसले बखर, पृष्ठ 48 पर उल्लिखित है कि सिर पर धारण किए जाने वाले पारम्परिक वस्त्र की शैली में परिवर्तन किये जाने पर आपत्ति की जाती थी। देखिए, चार्ल्स समर कृत लाइफ एण्ड लैटर्स, जिल्द I, पृष्ठ 338

81. देखिए विविधज्ञानस्तिार, जिल्द X, पृष्ठ 185 साथ ही देखिए मराठी साम्राज्य बखर, पृष्ठ 32; भोंसले बखर, पृष्ठ 9; चित्रगुप्त कृत शिवाजी, पृष्ठ 77 डाउसन ने लिखा है कि सभाजी का विवाह उनके दिल्ली जाने के पहले हो गया था (इलियट, जिल्द VII, पृष्ठ 272)। विविधज्ञानविस्तार, जिल्द X, पृष्ठ 303 में इसकी विरोधी बात लिखी है; मराठी साम्राज्य बखर, पृष्ठ 117; विविधज्ञानविस्तार, जिल्द XIII, पृष्ठ 242 भी देखिए।

82. देखिए पृष्ठ 85 सभासद कृत जीवनी, पृष्ठ 55 से तुलना कीजिए। होल्कर कृत कैफियत, पृष्ठ 67 तथा बर्नियर, पृष्ठ 308 भी देखिए।

83. इस विषय पर आज का ब्राह्मण क्या कहता है, इसके लिए देखिए विविधज्ञान-विस्तार, जिल्द XXI, पृष्ठ 248; श्री शिवकाव्य, जिल्द I, पृष्ठ 112-15, 121 देखिए; जिल्द II, पृष्ठ 49, 117। मैलकाम के सेन्ट्रल इण्डिया, जिल्द I, पृष्ठ 77 से तुलना कीजिए; फोरबेस के ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द II, पृष्ठ 209; फारेस्ट, पृष्ठ 728, लैटर्स तथा मेमोरेण्डा आदि (के० आई० एस०), पृष्ठ 9 से स्पष्ट है कि राजसत्ता प्राप्त करने के लिए पेशवा विशेष धार्मिक संस्कार करते थे।

84. फारबेस ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द I, पृष्ठ 427 में कहा गया है कि "माधव राव का मस्तिष्क हिन्दुओं की अन्धविश्वासपूर्ण भावनाओं तथा प्रतिबन्धों-से मुक्त था।"

85. ग्राट डफ, जिल्द II, पृष्ठ 209

86. पेशवा तथा भोसले के बीच अनुबन्ध का विशेष मुद्दा। देखिए भोसले लैटर्स आदि (के० आई० एस०), पृष्ठ 23, 64, 65, 70, 114 और चिटनिस कृत राजाराम (पृष्ठ 23) तथा पेशवा बखर (पृष्ठ 91) से तुलना कीजिए।

87. मराठी में 'प्यादा', का अर्थ 'सिपाही' भी है।

88. नाना फड़नवीस ने माधवराव की हर तरफ से खबर एकत्र करने की प्रणाली को स्वीकार कर लिया था। देखिए ग्राट डफ, जिल्द II, पृष्ठ 229 सवाई माधव राव के नाम लिखे गए गोपिकाबाई के पत्र में इसका खास उल्लेख है, देखिए लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि (के० आई० एस०) पृष्ठ 459 जहा तक नाना का प्रश्न है, देखिए पेशवा बखर, पृष्ठ 146-48

89. देखिए पेशवा बखर, पृष्ठ 94 राघोबा दादा के बारे में और भी अधिक उग्र कहानी के लिए देखिए पेशवा बखर (31-2)। पूना के ज्ञान प्रकाश समाचार पत्र ने उसी प्रकार की एक दूसरी कहानी छापी है। लगता है कि पेशवाओं की सेना के एक ब्राह्मण कर्मचारी ने गलती से गोली चला दी जिससे एक दूसरा ब्राह्मण मारा गया। उस कर्मचारी को ब्रह्महत्या के दोष में जाति से निकाल दिया गया। पर रामशास्त्री ने कहा कि यह गलती अचानक हुई थी, जान बूझ कर नही, और फिर उन्होंने उसके साथ सबके सामने खाना

खाया। जब उनसे इसका कारण पूछा गया तब उन्होंने कहा कि पेशवाओं ने भी, जो स्वयं ब्राह्मण थे, ऐसे ही अनेक अपराध किए थे, जो इस अपराध से भी अधिक निर्मम थे।

90. खेमे के खूंटे से मारने की घटना के सम्बन्ध में देखिए चिटनिस कृत राजाराम पृष्ठ 72, *मराठी साम्राज्य बखर*, पृष्ठ 100; *पेशवा शकावली*, पृष्ठ 30; होल्कर की कैफियत, पृष्ठ 79

91. *लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि* । (के० आई० सी०), पृष्ठ 501

92. हाल ही में निगुड़कर रचित तथा प्रकाशित लाइफ आफ भाऊ में ये सारी बातें *फिर लिखी गई है* (पृष्ठ 123) । *पानीपत बखर*, पृष्ठ 42 से *तुलना* कीजिए। पृष्ठ 24 पर भाऊ साहब की कैफियत मे देखिए।

93. *एक शास्त्री के एक सिपाही के रूप में कायापलट के बारे मे चिटनिस कृत* राजाराम, पृष्ठ 104 देखिए।

94. ग्राट डफ, जिल्द I, पृष्ठ 523

95. लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि। (के० आई० एस०), में पृष्ठ 395, एक वेदशास्त्र *सम्पन्न सज्जन का उल्लेख है जो पैसों के लेन-देन का काम करते थे।*

96 देखिए लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि (के० आई० संग्रह, पृष्ठ 2) । इस सम्बन्ध *में गोसावियों का सैनिक हो जाना भी उल्लेखनीय है*। देखिए ग्राट डफ, जिल्द III, पृष्ठ 333, 338; भाउ साहब की कैफियत, पृष्ठ 23; भाऊ साहब बखर, पृष्ठ 53, होल्कर की कैफियत, पृष्ठ 53, डाउसन कृत इलियट, जिल्द VII, पृष्ठ 294; मैलकाम कृत सेंट्रल इण्डिया, जिल्द II, पृष्ठ 169; फारबेस कृत ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द II, पृष्ठ 9। वैरागियों के बारे में देखिए होल्कर कृत कैफियत, पृष्ठ 7, 8, 62; पेशवा बखर, पृष्ठ 230

97. देखिए लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि। (के० आई० संग्रह), पृष्ठ 458; विविध-ज्ञानविस्तार, जिल्द V, पृष्ठ 179; उसी में गोपिकाबाई का पत्र भी छपा है। *पेशवा बखर*, पृष्ठ 62-4 *तथा मराठी साम्राज्य बखर*, पृष्ठ 93 से *तुलना* कीजिए।

98. देखिए ग्राट डफ, जिल्द II, पृष्ठ 120, 168, भाऊ साहब बखर, पृष्ठ 89, 90; पेशवा बखर, पृष्ठ 61, 64-65, फारेस्ट, पृष्ठ 250-1 और 677

इनसे पता चलता है कि उन दिनो अंग्रेज गोपिकाबाई के बारे में क्या सोचते थ। पर राघोबा दादा के प्रति उनका पक्षपातपूर्ण रवैया था, इसलिए गोपिकाबाई के प्रति उनके विचार न्यायापूर्ण नही थे। डाउसन का इलियट भी देखिए (जिल्द VIII, पृष्ठ 267, 287); फारबेस का ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द I, पृष्ठ 478

99. देखिए फारेस्ट का सेलेक्शन, जिल्द I, पृष्ठ 725

100 पृष्ठ 26 में यहा इसके मूल प्रमाण का उल्लेख करूंगा। पर वह प्रभु पक्ष के दृष्टिकोण से होगा। देखिए दहिस्ट्री आफ चिटनिस फैमली (के० पी० आई० एस०), खड II, के० पी० बखर, (के० पी० आई० एस०) पृष्ठ 13

101 देखिए भोसले बखर, पृष्ठ 17, ग्राट डफ, जिल्द I, पृष्ठ 426

102. पृष्ठ 20, चित्रगुप्त रचित लाइफ आफ शिवाजी में पृष्ठ 123 पर इन्हें 'मछली खाने वाले' ब्राह्मण कहा गया है। के०ए० सभासद की जीवनी, पृष्ठ 57 भी देखिए (सम्पादक ने इसके कुछ अवतरणो को अमौलिक कहा है और इसके प्रमाण दिए हैं, ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्व है)। पेशवाओं की आपत्ति उस समय के रस्म के आधार पर थी, शायद इसलिए कि शेनवियो को मछली-भक्षी कहा जाता था, जबकि दूसरे वर्गों के ब्राह्मण ऐसे नही थे, देखिए फ्रायर, पृष्ठ 190

103. खरडा बखर, पृष्ठ 20

104. खरड़ा की लड़ाई में परशुराम भाऊ का भतीजा मारा गया था, उसकी मृत्यु के दस दिन बाद तक परिवार के लोग सूतक में थे, देखिए फ्रायर, पृष्ठ 101

105. यह विचार उल्लेख योग्य है।

106. पृष्ठ 20 जोवा दादा ने भी उसी प्रकार की कृतज्ञता ज्ञापित की थी। वरिष्ठ माधवराव पेशवा का जनोजी भोंसले के साथ भोजन करना (लाइव्ज आफ दी नागपुर चिटनिस (के० पी० आई० एस०), पृष्ठ 3, कोई बडे सामाजिक अथवा धार्मिक महत्व की बात नही समझी जाती थी। फारेस्ट के बाम्बे स्टेट पेपर्स के सेलेक्शन (जिल्द I, पृष्ठ 162) के अनुसार वरिष्ठ माधवराव पेशवा ने एक बार श्री मोस्टिन को "अपने साथ ठहरने तथा भोजन करने को निमंत्रित किया, और श्री मोस्टिन ने उनका निमंत्रण स्वीकार किया।

भोजन कैसा रहा, तथा उसके विस्तृत प्रबन्ध आदि के बारे में जानने की इच्छा होती है, पर जहा तक मैं जानता हूं, उसके बारे में कोई सूचना नही है। पश्चिम के लोगों का भारतीय भोजन के बारे मे क्या विचार है, इसके लिए देखिए ओविंगटन का वायज टू सूरत, पृष्ठ 295–6, 397 ; फारबेस का ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द II, पृष्ठ 49; टॅवर्नियर का ट्रैवल्स, जिल्द I, पृष्ठ 409।

107. परशुराम भाऊ को, निगुड़कर की हाल की प्रकाशित जीवनी में, एक धार्मिक हिन्दू कहा गया है, अतः पेशवा से उनका अनुरोध करना उल्लेखनीय है। नाना की सलाह और पेशवा का उसे मान जाना भी कम उल्लेखनीय नही।

108 देखिए पृष्ठ 135–44 इस अवतरण पर पेशवा बखर के सम्पादक की टिप्पणी मेरे विचार से, महादजी शिंदे के साथ पूरा न्याय नही करती। हो सकता है कि महादजी इस प्रकार के प्रदर्शन को स्वयं पसन्द न करते हों (देखिए, फारेस्ट का *सेलेक्शन*, जिल्द I, भूमिका जो सम्भवतः *मैलकाम के सेन्ट्रल इण्डिया*, जिल्द I, पृष्ठ 125 पर आधारित है)। निस्सन्देह यह कहना अनुचित न होगा कि इस अवसर पर इस प्रकार के प्रबन्ध आदि करने मे उनकी कोई अभिलाषा रही होगी, पर टिप्पणी में जो यह कहा गया है कि उनके मन में कोई अनिष्टकर विचार रहा होगा वह सम्भव नही जान पड़ता। मुझे इसका कुछ भी पता नही, महादजी के चरित्र में ऐसा कुछ भी नही जिससे उनके प्रति यह दोषारोपण कि वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थ एवं वंश के लिए पूरे मराठा देश को कमजोर कर देना चाहते थे सिद्ध होता हो। उनका एकमात्र अभिप्राय. सम्भवतः सवाई माधवराव को प्रभावित करना था जो नाना फड़नवीस से अधिक शक्तिशाली थे। इस अभिप्राय की प्राप्ति के लिए वह भव्य तमाशो का आयोजन करते थे। इस प्रकार के प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए *यही एक प्रभावपूर्ण तरीका था।* पेशवा *बखरों ने कही भी नही कहा* है कि नाना को इन तमाशो से आपत्ति थी। सम्भव लगता है कि आपत्ति की गई हो, पर इसके प्रमाण में कुछ नही मिलता। जो प्रमाण है वह तो दूसरी कहानी ही कहते है। लोगों की अभिरुचि इस प्रकार के तमाशों में अवश्य थी, पर नाना की उनमें रुचि थी या नही, यह कहना कठिन है। (देखिए पेशवा बखर, पृष्ठ 131, 167, 172, 175, 193 ; भाऊ साहब बखर, पृष्ठ 99, 130 ; विविधज्ञानविस्तार, जिल्द V, पृष्ठ 220 ; वही, जिल्द X, पृष्ठ 6, 7 ; चिटनिस कृत शाहू, पृष्ठ 49 ; मराठी साम्राज्य बखर, पृष्ठ 87, 102 ; पेशवा शकावली, पृष्ठ 17, 90 ; चिटं

कृत राजाराम, पृष्ठ 50 ; एशियाटिक रिसर्चेज, जिल्द III, पृष्ठ 24 ; ओविंगटन कृत वायज टू सूरत, पृष्ठ 329 ; ग्राट डफ, जिल्द II, पृष्ठ 59 ; डाउसन कृत इलियट, जिल्द VIII, पृष्ठ 280)। सवाई माधव के विवाह के सम्बन्ध में, जिसमें पचास हजार रुपये केवल कपड़ों पर व्यय किए गए थे, और जिसका प्रबन्ध नाना फड़नवीस ने किया था, देखिए लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि (के० आई० सग्रह), पृष्ठ 226, तथा वही, पृष्ठ 273–74

109 लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि (के० आई० सग्रह), पृष्ठ 277, 292

110. शमशेर बहादुर का बेटा, जो मस्तानी से प्रथम बाजीराव का पुत्र था ।

111. देखिए लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि (के० आई० सग्रह), पृष्ठ 278. पेशवा बखर (पृष्ठ 146) में कहा गया है कि मुसलमानो के लिए भोजन का अलग प्रबन्ध था ।

112. लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि (के० आई० सग्रह), पृष्ठ 541 , पेशवा शकावली, पृष्ठ 18, पूना अदालत के श्री वी० वी० लेले की अनुकम्पा से मुझे पेंडसे की डायरी देखने का अवसर मिला । यह डायरी विविध स्रोतो पर आधारित एक आधुनिक सचयन है । बालाजी बाजीराव के दो विवाहो का ही उल्लेख है। यह भी उल्लिखित है कि उनकी एक रखैल भी थी। अतएव कन्हाड़े विवाह के सम्बन्ध में सन्देह बिल्कुल निराधार नहीं ।

113. ऐसा अत्यन्त विरले अवसरो पर ही होता है। ज्ञानप्रकाश समाचारपत्र के अनुसार बाजीराव के समय के पहले इन तीन वर्गों का साथ-साथ भोजन करना अत्यन्त असाधारण बात थी ।

114 लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि (के० आई० सग्रह), पृष्ठ 300 निगुडकर की हाल ही में प्रकाशित जीवनी की इस बात को (पृष्ठ 125) कि परशुराम भाऊ को सामान्य संस्कारों के साथ जलाया गया था । उस विवरण मे पुष्टि नही मिलती जिसके अनुसार 'मदाग्नि' हुई थी । ग्राट डफ (जिल्द III, पृष्ठ 185–6) मे उल्लिखित इस तथ्य को कि शव के साथ कोल्हापुर के राजा ने अमानवीय व्यवहार किया था, करन्दिकर के चित्रण से पुष्टि नहीं मिलती। यह कहानी इस बात की मिसाल है कि मूल प्रमाण के अभाव में तथ्य को कितना तोड़ा-मरोड़ा जाता है और त्रुटियां हो जाती हैं ।

115. इसको देखते हुए कि वे घटनाएं कहां से एकत्र की गई हैं, मेरे विचार से इनको अधिक महत्व नही देना चाहिए। इन्हें पटवर्धनों के प्रधान कोन्हरपंत ने शंकेश्वर के स्वामी शंकराचार्य के मठ की भर्त्सना के लिए इकट्ठे किए थे। (इसके लिए देखिए विविधज्ञानविस्तार, जिल्द XX, पृष्ठ 118 फारबेस द्वारा ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द II, पृष्ठ 134 पर भी यही घटना अंकित है, गोकि वहा परशुराम भाऊ का नाम दिया गया है)। यहा मैं उस लूट का भी उल्लेख नही कर रहा जो कावगाव के पुरोहितों को झेलनी पड़ी थी (देखिए लैटर्स, आदि, के० आई० संग्रह, पृष्ठ 26), न ही उसका जो जयराम स्वामी के वड़गांव के विरुद्ध था (देखिए लैटर्स आदि, पृष्ठ 188)। इस बात का उल्लेख भी नही कि लोग अंग्रेजी दवाओं को प्रयोग करने लगे थे (फारेस्ट, सेलेक्शन, पृष्ठ 550; फारबेस कृत ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द III, पृष्ठ 431; भोंसले लैटर्स आदि (के० आई० संग्रह), पृष्ठ 79; होल्कर की कैफियत, पृष्ठ 128)। ट्रैवर्नियर (देखिए जिल्द I, पृष्ठ 245, 254) के अनुसार कुछ वर्गों के लोग जो साधारण स्थिति में एक दूसरे का स्पर्श वर्जित मानते थे, युद्ध के दिनों में इस प्रतिबन्ध को त्याग देते थे। फारबेस ने अपने ओरिएन्टल मेमायर्स, जिल्द I, पृष्ठ 231 पर लिखा है कि एक अवसर पर उसे तथा उसके साथ के लोगो को बड़ी गन्दी जगह ठहराया गया, क्योंकि हिन्दू समझते थे कि यदि उनसे वे छू गए तो वे भ्रष्ट हो जाएंगे, पर इस सन्दर्भ मे इन तथ्यों का कोई विशेष महत्व नहीं। शंकेश्वर घटना के बारे मे मुझे कोई मौलिक भारतीय प्रमाण नही मिला है। विविधज्ञानविस्तार, जिल्द XXI, पृष्ठ 285 में इसका एक बार और उल्लेख तथा व्याख्या है। मैलकाम कृत सेन्ट्रल इण्डिया, जिल्द I, पृष्ठ 148, 224 भी देखिए।

116. भिक्षुओं के अज्ञान के इन उदाहरणों के साथ शिवाजी के यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर पंडितों तथा शास्त्रियों द्वारा दी गई ढील को भी देखना चाहिए। (देखिए टिप्पणी 59, 72, 75) यही हाल हुआ था सवाई माधवराव की विधवा द्वारा चिमाजी अप्पा को गोद लेने के अवसर पर। बाद में उसे रद्द कर दिया गया था। चिमाजी को प्रायश्चित करना पड़ा और जिन शास्त्रियों ने गोद लेने की सलाह दी थी उन्हें देश से निकाल दिया गया (देखिए रावर्टसन कृत नाना फड़नवीस की जीवनी, पृष्ठ 118 जो संभवतः ग्रांट डफ, जिल्द III, पृष्ठ 145 पर आधारित है)। मूल प्रमाण के लिए देखिए चिटनिस कृत शाहू की जीवनी, जिल्द II, पृष्ठ 67; लैटर्स मेमोरेण्डा आदि (के० आई० संग्रह), पृष्ठ 444; वी० वी० खरे की नाना फड़नवीस की हाल ही प्रकाशित जीवनी, पृष्ठ 203 भी देखिए।

117. गुरवुड कृत वेलिंगटन्स लैटर्स आदि, पृष्ठ 9

118. गायकवाड कृत हकीकत, पृष्ठ 11, इस घटना के बारे में मुझे 'ऐतिहासिक गोष्ठी' से पता चला जो रोचक मराठी ग्रन्थों में से एक है। इसके लिए मैं उस व्यक्ति का आभारी हूं जो अब नहीं रहा, पर जिसने यह निबन्ध पढ़ा था स्वर्गीय गोपालराव हरी देशमुख के बारे में उसे न जाने कितनी बातें मालूम थीं। इस कहानी का मुझे कोई मौलिक प्रमाण नहीं मिला। हाल ही में प्रकाशित बापू गोखले की जीवनी में भी इसका उल्लेख नहीं है। उसमें सिर्फ यह लिखा है कि बापू ने अपनी पगड़ी तब तक न पहनने की शपथ ली थी जब तक वह घोडी से बदला न ले लेते। जीवनी का पृष्ठ 38 देखिए। चित्रगुप्त रचित शिवाजी, पृष्ठ 56 तथा सभासद के शिवाजी, पृष्ठ 35 से तुलना कीजिए, जीवनी के प्रथम संस्करण में ग्राट डफ की इस बात पर कि घोडी को खत्म कर दिया गया था (पृष्ठ 98-99) कुछ कहा गया है, पर ऐतिहासिक समीक्षा की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं, दूसरे सस्करण मे इस बात को निकाल दिया गया है, इसलिए उसके बारे में अब और कहना उपयुक्त नहीं। महिला की कठिन सकल्प-शक्ति के विषय में भाऊ साहब बखर, पृष्ठ 14 देखिए। इन्हें भी देखिए—मैलकाम कृत सेंट्रल इण्डिया, जिल्द I, पृष्ठ 107; बर्नियर, पृष्ठ, 41, हैमिल्टन कृत ईस्ट इंडीज, जिल्द I, पृष्ठ 136; टाउसन कृत इलियट ,जिल्द III, पृष्ठ 2

119 पृष्ठ 131-2, कहा जाता है कि यह पुस्तक कुछ मौलिक अप्रकाशित दस्तावेजों पर आधारित है। इनमें से कुछ दस्तावेजों का परीक्षण राय बहादुर एम० जी० रानडे ने भिगुड़कर के विवरण की प्रामाणिकता को जाचने के लिए किया था।

120 वही, पृष्ठ 132–4, लैटर्स आदि (के० आई० सग्रह) पृष्ठ 501 से मिलान कीजिए।

121. 1000—1200 वर्ष पूर्व के भारत के हालात सम्बन्धी उस अत्यन्त महत्वपूर्ण सूचना कोष से हमें पता चलता है कि ह्वेन सांग के दिनों में हिन्दुओं में विधवा-विवाह एक सामान्य बात थी (देखिए बुद्धिस्ट रिकार्डस आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जिल्द I, पृष्ठ 82)।

122. पूना के ज्ञानप्रकाश समाचारपत्र के एक लेखक के अनुसार राम शास्त्री की मृत्यु बनारस से राय आने के पहले ही हो गई थी और इसलिए परशुराम भाऊ ने अपनी मूल इच्छा का कार्यान्वयन रोक दिया।

123. देखिए फारबेस कृत ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द I, पृष्ठ 379 उसी रोचक ग्रन्थ के एक आखिरी भाग से पता चलता है कि राघोवा सूरत से कैम्बे समुद्री मार्ग से गए थे, "अनेक धार्मिक ब्राह्मणो तथा विद्वानों ने, जो उच्च हिन्दू वर्ग के थे, उनकी समुद्री यात्रा के लिए उन्हें प्रताड़ित किया। उन्होंने कहा कि राघोवा ने स्थापित विधान तथा जाति के रस्म को ही नहीं तोड़ा है, ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध भी काम किया है।" देखिए, फारबेस, जिल्द II, पृष्ठ 8 इसलिए उन ब्राह्मणो तथा विद्वानों ने उन सभी ब्राह्मणों की भर्त्सना की होगी जो पिछले अनेक वर्षों से समुद्र यात्रा करते रहे होंगे, और भारतीय समुद्र तट पर श्रीलंका से कराची जाते रहे होंगे। उनकी भर्त्सना सिर्फ उन्हीं लोगों के प्रति नही थी जो यूरोप तक जाते थे। राघोवा ने समुद्र की यात्रा अनेक बार की (देखिए नारायणराव पेशवा बखर, पृष्ठ 13) ; शिवाजी भी बेदनौर समुद्र-मार्ग से ही गए थे। देखिए 'विविधज्ञानविस्तार', जिल्द IX, पृष्ठ 132

124. विविधज्ञानविस्तार (जिल्द IX, पृष्ठ 235) के एक लेखक के अनुसार यह एक जाना हुआ तथ्य है कि राघोवा का दूत, आवा काले, प्रायश्चित के बिना ही अपनी जाति में वापस ले लिया गया था। इसके प्रमाण में हमारे सामने कोई लिखित प्रपत्र नही। फारबेस के अनुसार यह बिलकुल गलत है।

125. चिटनिस कृत राजाराम की जीवनी I, पृष्ठ 58, 86 ; ग्राट डफ, जिल्द I, पृष्ठ 322, 373

126. देखिए पेशवा शकावली, पृष्ठ 5, 10, 14, 22, 23

127. देखिए विविधज्ञानविस्तार, जिल्द IX, पृष्ठ 41, 42 ; चिटनिस कृत राजाराम, पृष्ठ 44, 52 ; रामदास चरित्र, पृष्ठ 1, 2 ; मराठी साम्राज्य बखर, पृष्ठ 126 ; इसी प्रकार की अन्य घटनाओं के लिए और भी देखिए, हैमिल्टन कृत ईस्ट इंडीज, जिल्द I, पृष्ठ 158; ओविंगटन कृत वायज, टू सूरत, पृष्ठ 321–324 ; फ़ायर, पृष्ठ 33 ; फारबेस कृत ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द I, पृष्ठ 73

128. लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि (के० आई० संग्रह), पृष्ठ 34 नाना के जीवनीकार गवर्डसन ने यह चित्रण कदाचित देखा नही था। कहा जाता है कि चित्रण की मूल प्रति को ब्रुक इंग्लैण्ड लेकर चला गया। देखिए वी० वी० खरे कृत जीवनी, पृष्ठ 4 निगुड़कर रचित पटवर्धन की जीवनी से लगता है: परशुराम भाऊ का विवाह तेरह साल की आयु में हो गया था।

129. देखिए पेशवा बखर, पृष्ठ 172 ; पेशवा शकावली, पृष्ठ 15, 35 ; चिटनिस कृत राजाराम II, पृष्ठ 3, 57 ; साम्राज्य बखर, पृष्ठ 103 , विचुरकर बखर, पृष्ठ 6

130 लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि (के० आई० सग्रह), पृष्ठ 523; देखिए ओविगटन पृष्ठ 343–4 , और टैवर्नियर, जिल्द II, पृष्ठ 209 । इनमें उन दिनो की कुछ रिवाजो पर कुछ कथन उपलब्ध हो जाएगें ।

131. देखिए मराठी साम्राज्य बखर, पृष्ठ 49, 102–4, पेशवा बखर, पृष्ठ 139, 161 ; विविधज्ञानविस्तार, जिल्द XIII, पृष्ठ 203, 238 लाइफ आफ रावजी आपाजी (के० पी० आई० एस० सग्रह), पृष्ठ 27, 63 भी देखिए ; और फारबेस कृत ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द I, पृष्ठ 81 से तुलना कीजिए । इसमें सम्मानपूर्ण प्राचीनता के पूर्ववर्ती उदाहरण है। देखिए कालिदास कृत रघुवश, सर्ग 3, छन्द 19 ; टैवर्नियर ने भी इस प्रकार के मनोरंजनो का उल्लेख किया है । देखिए अन्य कृतियो के साथ ही जिल्द I, पृष्ठ 71, 87, 158, 259, 289 ; तुलना कीजिए स्काट कृत डकन, जिल्द I, पृष्ठ 29, 77 से , फारबेस (ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द II, पृष्ठ 53) ने लिखा है कि मराठा खेमो मे लम्पट औरते रहा करती थी, गोकि शिवाजी का शासन इसके बिलकुल विरुद्ध था। देखिए चित्रगुप्त कृत लाइफ, पृष्ठ 36 (पृष्ठ 150 भी) । फ्रायर कृत ट्रेवल्स, पृष्ठ 176 ; चित्रगुप्त पृष्ठ 1 भी देखिए ।

132. देखिए भोसले बखर, पृष्ठ 79, 119 ; पेशवा शकावली, पृष्ठ 10 , तुलना कीजिए डाउसन कृत इलियट, जिल्द I, पृष्ठ 6 ; और बर्नियर, पृष्ठ 310 भारत के मुसलमान शासको ने विधवाओ द्वारा अपनी बली देने की प्रथा को रोका था । देखिए ओविगटन, पृष्ठ 343 ; टैवर्नियर, जिल्द I, पृष्ठ 210 ; और देखिए लार्ड विलियम बेंटिक (रूलर्स आफ इण्डिया सीरीज), पृष्ठ 104 भोसले लैटर्स आदि (के० आई० सग्रह), पृष्ठ 12 से स्पष्ट है कि एक अवसर पर एक व्यक्ति की तेरह पत्नियो ने सति के रूप मे एक साथ अपना बलिदान किया ।

133. फारेस्ट के सेलेक्शन में इस बात के अनेक उदाहरण है कि विवाहों, अन्तिम संस्कारो, होली समारोहो तथा कुप्रभाव पैदा करने वाले ग्रहो के कारण व्यापार रोक दिए जाते थे । देखिए पृष्ठ 129, 130, 145, 146, 149, 150, 175, 596 फारबेस कृत ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द II, पृष्ठ 22 ; डाउसन कृत इलियट, जिल्द VII, पृष्ठ 296 भी देखिए । फारबेस के बाम्बे सेलेक्शन्स,

जिल्द I, पृष्ठ 489 में एक उदाहरण है कि एक अंग्रेज अधिकारी को एक व्यापार का निर्णय करना आवश्यक था और उसने ग्रहों की परवाह न करते हुए अपना काम सफलतापूर्वक पूरा किया। ओरिएण्टल मेमायर्स, जिल्द III, पृष्ठ 473 भी देखिए। उसमें भी इसी प्रकार की एक घटना दी गई है। भाऊ साहब के कैफियत, पृष्ठ II पर दी गई एक घटना के अनुसार ग्रहों के अनुकूल होने पर भी एक व्यापार कार्य में असफलता का सामना करना पड़ा था।

134. कायस्थ प्रभुची बखर, पृष्ठ 10 के अनुसार मुसलमान शासन के अन्तर्गत सभी लोगों का सामान्य आचरण आध्यात्मिक रूप से अपवित्र होता था। ब्राह्मण इस नियम का पालन नहीं करते थे कि उन्हें क्या खाना चाहिए और क्या नहीं। पृष्ठ 17–18 पर बनारस के पण्डितों का मत भी देखिए। कायस्थ प्रभुच्या इतिहासांची साधने (ग्रामाम्य), पृष्ठ 14 ; विविधज्ञानविस्तार, जिल्द IX, पृष्ठ 31–3 ; चित्रगुप्त कृत शिवाजी, पृष्ठ 97, 137 , श्री शिव काव्य, जिल्द I, पृष्ठ 51–52 ; पृष्ठ 107 देखिए। इस विषय पर एक विदेशी की प्रतिक्रिया देखिए एन० मैक्लायड कृत पीप्स एट द फार ईस्ट, पृष्ठ 266 पर।

135. कुछ-कुछ इसी प्रकार की उक्तियां सर एच० एस० मेन की विलेज कम्युनिटीज (तृतीय संस्करण, पृष्ठ 46–7) में मिलती हैं, सब की तुलना कीजिए।

136. यह अपने दोनों पक्षों में अनुपस्थित होता जैसा कि सर एच० एस० मेन ने अपनी कृति 'विलेज कम्युनिटीज', पृष्ठ 273 और 270 तथा 288 पर भी दर्शाया है।

137. देखिए विलेज कम्युनिटीज, पृष्ठ 45–7

138 कायस्थ प्रभुची बखर (के० पी० आई० एस०), पृष्ठ 9 के अनुसार इन हिस्सों में ब्राह्मणों और कायस्थ प्रभुंओं में विवाद खड़ा हो गया। बनारस के पण्डितों का मत मांगा गया। उन्होंने अपना मत कायस्थों के पक्ष में दिया। फिर पुरानी असहमतियों के बावजूद पश्चिमी भारत के लोग पण्डितों के निर्णय के अनुसार ही कार्य करने लगे। वर्तमान समय में किए जाने वाले कुछ दूसरे प्रकार के कार्यों के उदाहरण भी सवाई माधवराव के समय में मिलते थे। देखिए कायस्थ प्रभुच्या इतिहासाची साधने (ग्रामान्य), पृष्ठ

139. देखिए टिप्पणिया 103, 104. यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं नाना भी स्वतंत्र विचारक नहीं वल्कि संदेहवादी थे। देखिए लैटर्स, मेमोरेण्डा आदि (के० आई० संग्रह) पृष्ठ 34, 39 वी० वी० खरे कृत जीवनी, पृष्ठ 166 (जिसमें कवि मोरोपंत अपनी दयालुता के उदाहरण स्वरूप उद्धृत है, देखिए श्री शिवकाव्य, जिल्द XII, पृष्ठ 27)। वास्तव में वह एक अत्यन्त धर्मपरायण हिन्दू था। आज के धार्मिक हिन्दू अभी भी 'स्मृति' की दुहाई देते है, अपनी इग्लैण्ड यात्रा को ठीक ठहराने के लिए श्लोक उद्धृत करते है, और जो वर्जित है उसके लिए अपने को वड़ा असहाय अनुभव करते हैं, किन्तु जहा तक हमारा प्रश्न है, हमे इस वात की अब आवश्यकता नही।

140. डा० नार्मन मैक्लीड कृत 'पीप्स ऐट द फार ईस्ट', पृष्ठ 68 तथा 375 पर दी गई घटना देखिए।

83-M/B(N) 804 MofI&B—3,000—20-12-84—GIPS